

रामचरितमानस : एक रचना की यात्रा

“परिपूर्णता के प्रति भारतवर्ष की एक हार्दिक आकांक्षा रही है। इसी से वह उसे यथार्थ सत्य से परे समझकर उसकी अवज्ञा नहीं करता, उसका अविश्वास नहीं करता। इसको भी वह यथार्थ सत्य के रूप में स्वीकार कर लेता है और इसी में उसे आनंद मिलता है इसी परिपूर्णता की आकांक्षा को जगाकर और तृप्त करके रामायण के कवि ने भारतवर्ष के भक्त हृदय को सदा सदा के लिए खरीद लिया है। जो जाति खण्ड सत्य को प्रधानता देती है, जो लोग यथार्थ का अनुसरण करने से नहीं थकते, जो लोग काव्य को प्रकृति का दर्पणमात्र कहते हैं, उन्होंने संसार में बहुत से काम किये हैं, वे विशेष रूप में विशेष प्रकार से कृतार्थ हुए हैं, मानव जाति उनके प्रति ऋणी है। दूसरी ओर जो लोग कहते हैं ‘भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः’ जो परिपूर्ण परिणति में समस्त खंडता की सुषमा, समस्त विरोधों की शांति पाने के लिए साधना करते हैं— उनका ऋण भी कभी न चुकाया जा सकेगा। उनका परिचय लुप्त होने पर, उनका उपदेश विस्मृत हो जाने पर मानव—सभ्यता अपने धूल और धुएँ से भरे हुए कारखाने की जनता के बीच निःश्वास—कलुषित, घुटे हुए आकाश में पल पल पर पीड़ित होकर, दुर्बल होकर भरती रहेगी। रामायण उसी अखंड अमृत—पिपासुओं का शाश्वत परिचय वहन कर रहा है।”¹

“वे उस देश में पैदा हुए थे, जहाँ कल्पना की जा सकती है कि राम के जन्म होने के हजारों वर्ष पहले रामायण लिखी गयी थी, अर्थात् जहाँ कवि भविष्य का द्रष्टा और स्रष्टा समझा जाता है। तुलसीदास ऐसे ही भविष्यद्रष्टा थे। आज तीन—साढ़े तीन सौ वर्ष बाद इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह गया

कि उन्होंने सचमुच ही भावी समाज की सृष्टि की थी। आज का उत्तर भारत तुलसीदास के आदर्शों पर गठित हुआ है। वही उसके मेरुदंड है।”²

*

*

*

*“This great texts rework the small ones, for “lions are made of sheep”, as Valery said. And sheep are made of lions, too: a folk legend says that Hanuman wrote the original Ramayana on a mountaintop, after the Great War, and scattered the manuscript; it was many times larger than what we have now. Valmiki is said to have captured only a fragment of it. In this sense, no text is original, yet no telling is a mere retelling – and the story has no closure, although it may be enclosed in a text. In India and in Southeast Asia, no one ever reads the Ramayana or the Mahabharata for the first time. The stories are there, “always already.”*³

*

*

*

बदउँ मुनि पद कंजु रामायण जेहिं निरमयउ।

सख सुकोमल मंजु दोष रहित दूषण सहित॥ 1.14⁴

“....हम जब राग दरबारी सुनते हैं नहीं पूछते कि क्या तानसेन ने यह राग ऐसे ही, यों का यों, गाया था? बल्कि तानसेन की बात ही दूर, कोई अपने गुरु की सी भी दरबारी गाये, उसमें कोई सी नयी बात न कहे तो भी हमारा ध्यान उधर ये उचट सा जाता है कि यह तो बासी दरबारी गा रहा है, वह बात नहीं जो होनी चाहिए। दरबारी तानसेन की रचना इसी अर्थ में है जिस अर्थ में कोई विचार, कोई नयी धारणा किसी चिन्तक की होती है। विचार का “वही” तो स्पष्ट ही राग के “वही” जैसा होता है। विचार, मूल में जिन शब्दों में

व्यक्त किया गया हो उन्हीं शब्दों में उसे दुहरा देना विचार का दुहराना नहीं होता, केवल शब्द ही दोहराये जाते हैं। विचार में साधी गयी कोई धारणा "वही" तभी रहती है जब दूसरा विचारक अपनी तरह से उन पर आलाप कर सके – उसके मर्म को अपने विचारों के उन्मेष में जगाये रख सके।'⁵

रामचरितमानस की रचना सन् 1574 ई. में हुई। कृतिकार ने कृति के अन्दर ही इसका उल्लेख किया है : "संबत सोरह सै एकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा।। नौमी भेमबार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।।" 1७34⁶ इतिहास में यह मुगल सम्राट अकबर (शा. 1556–1605) का काल माना जाता है। यह काल—खंड सुख शांति एवं समृद्धि का था तथा इतिहासकारों ने प्रायः एक स्वर से अकबर को अशोक के बाद भारत के सर्वाधिक कुशल शासक के रूप में बखान किया है।⁷ लेकिन अकबर को 'द ग्रेट' कहने वाले विन्सेंट स्मिथ जैसे अधिकारी इतिहासकार ने यह कहा है कि अकबर एक महान शासक तो था लेकिन युग—पुरुष तो वह व्यक्ति था जिसका जिक्र आईने—अकबरी या किसी मुस्लिम वृतांत में या फारसी इतिहासकारों पर आश्रित यूरोपीय लेखकों की रचनाओं में आपको ढूँढ़े भी नहीं मिलेगा परन्तु जिसकी उपलब्धियाँ अकबर के तमाम विजयों से अधिक दूरगामी एवं स्थायी मानी जा सकती हैं: वह व्यक्ति तुलसीदास (1532–1623) था।⁸ क्या स्मिथ की इस मान्यता के पीछे यह समझ रही है कि 'भारतीय जीवन की धुरी राजनीति कभी नहीं रही' या रवीन्द्र नाथ ठाकुर के शब्दों में कहें तो भारतीय आत्मा के मर्म को 'राजनीति' नहीं बल्कि 'साधना' ही छू सकती है।⁹ रामचरितमानस को 'मध्यकालीन हिन्दू—काव्य के जादुई उद्यान का सर्वाधिक उँचा वृक्ष' घोषित करते हुए स्मिथ ने लिखा है कि एक आम ब्रिटिश ईसाई के मन में बाइबिल का जो स्थान है उससे कहीं अधिक उँचा स्थान उत्तर भारतीय हिन्दू की नजर

में 'मानस' का है।¹⁰ उन्नीसवीं शताब्दी के कई ब्रिटिश भारतविदों ने यही मत व्यक्त किया है।¹¹ आखिर इसका क्या कारण रहा होगा ? यह कैसे सम्भव हुआ कि एक रचना जो संयुक्त प्रांत के एक छोटे से क्षेत्र में बोली जाने वाली अवधी में लिखी गयी वह कालांतर में पूरे उत्तर भारत की सर्वाधिक लोकप्रिय रचना बन गई।

तुलसीदास का सर्वप्रथम प्रामाणिक उल्लेख नाभादास (1574–1638) रचित 'भक्तमाल' में मिलता है। छप्पय संख्या 129 में निम्नलिखित पंक्तियाँ आती हैं : "कवि कुटिल जीब निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भयौ। त्रेता काव्य निबंध कखि सत कोटि रमायन। इक अच्छर उद्वारे ब्रह्म इत्यादि परायण। अब भक्तनि सुख दैन बहुरि लीला विस्तारी। रामचरन रस मत्त रहत अहनिस व्रतधारी। संसार अपार के पार को सुगम रूप नवका लयौ। कलि कुटिल जीब निस्तार हित, वाल्मीकि तुलसी भयौ।¹² 'भक्तमाल' सम्भवतः सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ की रचना है¹³ अर्थात् पच्चीस–तीस वर्ष के अन्दर ही रामचरितमानस इतना लोकप्रिय हो चुका था कि दूर गलता (राजस्थान) में बैठे रामानंदी नाभादास बनारस के तुलसीदास को 'बाल्मीकि का अवतार' घोषित कर रहे थे। वैसे भक्तमाल पर प्रियादास की 'भक्त. रसबोधनी' (1712 ई.) टीका से यह ज्ञात होता है कि वृन्दावन में नाभादास से तुलसीदास की मुलाकात हुई थी¹⁴ और अनुमान किया जा सकता है कि रामानंदी संप्रदाय में मानस को एक मानक ग्रंथ के रूप में देखा जाने लगा था। मुगलों से विशेष संबंध होने के कारण राजस्थान में अपेक्षाकृत शांति थी और रामानंदियों ने इसका भरपूर फायदा उठाया। गंगा–यमुना के दोआबा में फैलने से पहले रामानंदी संप्रदाय को राजस्थान में राज्य–संरक्षण भी प्राप्त हुआ। अकबर के घनिष्ठ संबंधी एवं सेनानायक जयपुर के महाराजा मानसिंह रामानंदी गुरु अग्रदास का शिष्यत्व ग्रहण कर चुके थे।¹⁵ हो सकता है कि आध्यात्मिक रूप से चेतन अकबर ने

मानसिंह से 'मानस' के बारे में सुना हो। यूँ तो 'आइने-अकबर', 'अकबरनामा' या सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के किसी मुगल अख्यान में मानस का उल्लेख नहीं है और अकबर के कारखाने में रामायण पर जो लघु-चित्र तैयार किये गये हैं उसका भी आधार मानस नहीं बल्कि बाल्मीकि रामायण है लेकिन अपनी मृत्यु से दस माह पूर्व सम्राट अकबर ने जो सोने और चाँदी के सिक्के प्रचलित किये उस पर 'अल्लाहो अकबर' के स्थान पर राम और सीता के चित्र हैं तथा नागरी में 'राम-सीय' अंकित है, ये क्या संकेतित करते हैं ?¹⁶ यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि तुलसीदास ने 'राम-सीय' शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर किया है जैसे-'सीय-राम मय सब जग जानी' या 'चित कहे रामसीय पद परि हरि' आदि।

सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के भारत में मुख्य रूप से दो विपरीत धाराएँ प्रवाहित होती दिखाई देती हैं जिसे सैयद अतहर अब्बास रिजवी ने मोटे तौर पर पुनरुत्थानवाद की धारा एवं 'सुल्ह-कुल' की धारा कहा है।¹⁷ अगर एक ओर मुल्ला बदायूनी, शेख अहमद सरहिंदी, शेख अब्दुल हक महदी तथा औरंगजेब जैसे लोग थे तो दूसरी तरफ अकबर, अबुल फजल, फैजी एवं दारा सिकोह जैसे लोग 'सुल्ह-कुल' तथा 'मजमुआ अल बहरीन' (सागर-संगम) में यकीन रखते थे। आर्थिक क्षेत्र में भी ऐसी ही चरम स्थिति थी, एक ओर 'कलि बारहि बार दुकाल परैं। बिन अन्न दुःखी सब लोग मरैं।'¹⁸ की स्थिति थी तो दूसरी तरफ ऐसी समृद्धि थी कि जिसकी तुलना प्राचीन भारत के सिर्फ 'स्वर्ण-युग' से ही की जा सकती थी। टेवर्नियर (1641 ई.)¹⁹ एवं बर्नियर (1663 ई.)²⁰ ने मुगल दरबार के ऐश्वर्य एवं समृद्धि का जो विवरण प्रस्तुत किया है उससे भारत के 'सोने की चिड़िया' होने की पुष्टि होती है। ताराचंद ने लिखा है कि यह वही सोने की चिड़िया था जिसके आकर्षण में पोतुगीज, स्पीनाड्स, डच, फ्रांसीसी एवं अंग्रेज और उनके विख्यात कप्तान कोलम्बस, वास्को डी

गामा, मेगेलन और मुक ने अनजाने समुद्र की कठिनाइयों तथा अनजाने मौसम की आफतों को अनदेखा कर सका था।²¹ ऐसे विषम राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक समय में आश्चर्य नहीं कि साधना के क्षेत्र में कई सम्प्रदाय उठ खड़े हुए। अगर एक ओर रामानुज, मध्व, निम्बार्क और बल्लभ के शास्त्रीय सम्प्रदाय और सूफियों के कादिरि, सत्तारी, नक्सबंदी एवं चिश्ती सिलसिले थे तो दूसरी ओर प्राणनाथ, स्वामी नारायण सिंह, रामचरण, बुलाकी राम, औलेचन्द, बलराम हरि, दरिया साहेब, गरीब दास, मजनुँ नानक शाह जैसे कई संत उपदेशक मनुष्य की 'मुक्ति' की राह दिखाने का दावा कर रहे थे।²² इन सम्प्रदायों में परस्पर संघर्ष भी हुआ और समन्वय भी। गोविन्द चन्द्र पांडेय ने लिखा है : "पन्द्रहवीं सदी में विशेष रूप से सूफी संतों और भक्तिमार्गी संतों के परस्पर सम्पर्क से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सांस्कृतिक समन्वय का एक नया युग आरम्भ हुआ। इस समन्वय के अनेक पक्ष थे – सूफी मार्ग और भक्ति मार्ग का एक दूसरे को प्रभावित करना, प्राचीन कथा-परम्पराओं का मध्यकालीन परिवेश में पुनः प्रस्थापन, शास्त्रीय मतों का सुगम रूप में प्रतिपादन, आध्यात्मिक अनुभूति के चिरन्तन आयाम को लोकसमक्ष जी कर जीवंत प्रेरणा के रूप में प्रस्तुत करना। संक्षेप में पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदियों में प्राचीन आध्यात्मिक संस्कृति का एक नया मध्यकालीन संस्करण प्रस्तुत हुआ और यह प्रस्तुति भक्ति के माध्यम से हुई। यही तुलसी के युग का मुख्य अन्तःसूत्र था।"²³

यह सच है कि तुलसी में पुररूथानवादी प्रवृत्तियाँ काफी हैं : 'प्राचीन आध्यात्मिक संस्कृति का एक नया मध्यकालीन संस्करण : "बरनास्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहि भय सोक न रोग।" 7^{२०} और उनके रामराज में 'सुल्ह-कुल' (शांतिपूर्ण सह अस्तित्व) के लिए भी पूरी जगह है: "फूलहिं फरहिं सदा तरु -कानन। रहहिं एक संग गज

पंचानन ॥ खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई ॥
लेकिन क्या सिर्फ इस वजह से मानस को क्रमशः रामानंदी सम्प्रदाय और मुगल साम्राज्य से संरक्षण प्राप्त हो सकता था ?

रामानंदी सम्प्रदाय कई मायनों में मध्यकालीन धर्म-साधना के क्षेत्र में विशिष्ट कहा जा सकता है। रामानंद²⁴ सम्भवतः पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अपने उपदेश एवं प्रवचन संस्कृत के बजाय स्थानीय भाषा में देना ज्यादा सही समझा था।²⁵ यह भी कम उल्लेखनीय नहीं है कि उनके प्रसिद्ध बारह शिष्यों में स्त्री, शूद्र एवं मुसलमान सभी शामिल हैं। 'रामानंद रामानुज के शिष्य थे', 'रामानंद वर्णाश्रम विरोधी थे' 'वे सामाजिक पुनर्गठन करना चाहते थे' ये सभी विवाद के विषय बने हुए हैं²⁶ लेकिन यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है जैसा कि हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'रामानंद में कुछ न कुछ ऐसी साधना अवश्य थी जिसके कारण योग- प्रधान भक्ति मार्ग, निर्माण पंथी भक्ति -मार्ग और सगुणोपासक भक्ति -मार्ग तीनों ही के पुरस्कर्ता भक्तों ने उन्हें अपना गुरु माना है।'²⁷ अठारहवीं शताब्दी तक पूरे उत्तर भारत में सबसे प्रभावशाली सम्प्रदाय के रूप में अगर रामानंदी सम्प्रदाय उभर कर सामने आया तो यह अनुमान किया जा सकता है किस वर्ग-वर्ण विभाजित समाज में रामानंद ने सामाजिक अभियांत्रिकी का भी उपयोग किया गया होगा। इसके अतिरिक्त जैसा कि पीटर वान डेर वीयर#ने लिखा है कि उत्तर भारत में रामानंदी सम्प्रदाय के उत्तरोत्तर विकास में दो अन्य अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक हैं : रामचरितमानस की बढ़ती लोकप्रियता तथा दूसरा तीर्थाटन, सिपाहगरी एवं व्यापार का बढ़ता बाजार। आगे उन्होंने लिखा है कि "रामचरितमानस विभिन्न सम्प्रदायों का सर्वस्वीकृत पाठ बन चुका था... धार्मिक रूप से स्पष्टतः यह एक मुक्त पाठ था।"²⁸ यहाँ यह प्रश्न विचारणीय नहीं रह जाता है कि स्वयं तुलसी रामानंदी वैरागी थे या स्मार्त वैष्णव²⁹ जितना कि यह जानना कि आखिर

रामचरितमानस के पाठ में ऐसा क्या था जो इसे हर सम्प्रदाय के लिए सहज स्वीकार्य बना देता था ?

हिन्दी साहित्य का इतिहास इस सन्दर्भ में मानस की समन्वयकारी भूमिका को रेखंकित करता है। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है : “गोस्वामी जी की भक्ति-पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सर्वांगपूर्णता। जीवन के किसी पक्ष को सर्वथा छोड़कर वह नहीं चलती है। सब पक्षों के साथ उसका सामंजस्य है। न उनका कर्म या धर्म से विरोध है, न ज्ञान से। धर्म तो उसका नित्य लक्षण है। तुलसी की भक्ति को धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते हैं। योग का भी उसमें समन्वय है, पर उतने ही का जितना ध्यान के लिए, चित्त को एकाग्र करने के लिए आवश्यक हैं।

“प्राचीन भारतीय भक्ति मार्ग के भीतर भी उन्होंने बहुत सी बढ़ती हुई बुराइयों को रोकने का प्रयत्न किया। शैवों और वैष्णवों के बीच बढ़ते हुए विद्वेष को उन्होंने अपनी सामंजस्य व्यवस्था द्वारा बहुत कुछ रोका जिसके कारण उत्तरी भारत में वह वैसा भयंकर रूप न धारण कर सका जैसा उसने दक्षिण में किया। यहीं तक नहीं, जिस प्रकार उन्होंने लोकधर्म और भक्ति साधना को एक में सम्मिलित करके दिखाया उसी प्रकार कर्म, ज्ञान और उपासना के बीच भी सामंजस्य उपस्थित किया। ‘मानस’ के बालकाण्ड में संत समाज का जो लम्बा रूपक है, वह इस बात को स्पष्ट रूप में सामने लाता है। भक्ति की चरम सीमा पर पहुँचार भी लोकपक्ष उन्होंने नहीं छोड़ा। “यही कारण है कि इनकी भक्ति –रस भरी वाणी जैसी मंगलकारिणी मानी गई वैसी और किसी की नहीं। आज राजा से रंक तक के घर में गोस्वामी जी का रामचरितमानस विराज रहा है और प्रत्येक प्रसंग पर इनकी चौपाईयाँ कहीं जाती हैं।”³⁰

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मानो इसे और स्पष्ट करते हुए लिखा है : “तुलसी दास के काव्य की सफलता का एक और रहस्य उनकी अपूर्व समन्वय

—शक्ति में है।... उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिंतन का, ब्राह्मण और चांडाल का, पंडित और अपंडित का समन्वय, रामचरितमानस के आदि से अंत दो छोरों पर जानेवाली परा-कोटियों का मिलाने का प्रयत्न है। इस महान समन्वय का आधार उन्होंने रामचरित को चुना। इससे अच्छा चुनाव हो भी नहीं सकता था। रामनाम उन दिनों बड़े जोरों पर था। निर्गुण भाव से भजन करने वाले भक्तों में भी यही नाम प्रिय था। और लोक में भी इस शब्द की महिमा प्रचलित हो चुकी थी। अगुण और सगुण के समन्वय के लिए इससे बढ़कर दूसरा साधन हो नहीं सकता था। तुलसीदास ने ब्रह्म—राम से भी नाम को बड़ा कहकर सहज ही निर्गुण और सगुण—मार्ग के भीतर की सारी खाई पाट दी है।³¹

स्पष्ट है कि संघर्ष के बजाय समन्वय पर जोर देने वाला साहित्य ही 'मुक्त-पाठ' और अन्ततः बहु-समादृत हो सकता है लेकिन क्या समन्वय भी संघर्ष को अपने पक्ष में अनुकूलित कर लेने की रणनीति नहीं है ? इस संन्दर्भ में मुक्तिबोध का यह कथन विचारणीय है : "निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का संघर्ष निम्नवर्गों के विरुद्ध उच्चवंशीय संस्कारशील अभिरुचिवालों का संघर्ष था। निर्गुण मत में निम्नजातीय धार्मिक जनवाद का पूरा जोर था, उसका क्रांतिकारी संदेश था। कृष्णभक्ति में वह बिल्कुल कम हो गया, किन्तु फिर भी निम्न-जातीय प्रभाव अभी भी पर्याप्त था। तुलसीदास ने भी निम्न-जातीय भक्ति स्वीकार की, किन्तु उसको अपना सामाजिक दायरा बतला दिया। निर्गुण मतवाद के जनोमुख रूप और उसकी क्रांतिकारी जातिवाद-विरोधी भूमिका के विरुद्ध तुलसीदास जी ने पुराण-मतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया। निर्गुण-मतवादियों का ईश्वर एक था, किन्तु अब तुलसीदास जी के मनोजगत

में परब्रह्म के निर्गुण-स्वरूप के बावजूद सगुण ईश्वर ने सारा समाज और उसकी व्यवस्था— जो जातिवाद, वर्णाश्रम धर्म पर आधारित थी— उत्पन्न की। ... क्या यह एक महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत, एक भी प्रभावशाली और महत्वपूर्ण कवि निम्नजातीय शुद्र वर्णों से नहीं आया ? ... निष्कर्ष यह कि जो भक्ति-आन्दोलन जन-साधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरुद्ध जन-साधारण की सांस्कृतिक आशा-आकांक्षाएँ बोलती थी, उसका 'मनुष्य-सत्य' बोलता था, उसी भक्ति आन्दोलन को उच्च-वर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया, और उससे समझौता करके, फिर उस पर अपना प्रभाव कायम करके, और अनन्तर जनता के अपने तत्त्वों को उनमें से निकालकर, उन्होंने उस पर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया।"³²

अठारहवीं शताब्दी में रामचरितमानस के प्रचार-प्रसार में दो महत्वपूर्ण कारकों का योग रहा— एक, औरंगजेब की मृत्यु (1907) और मुगल साम्राज्य के पतन के साथ देसी हिन्दु रजवाड़ों का उत्थान तथा दूसरा रामानंदी सम्प्रदाय को राज्य का संरक्षण प्राप्त होना। उत्तरी भारत में बनारस, रीवा, ओरछा, मैहर, इन्दौर, बिजावर, पन्ना, छत्तरपुर, टीकमगढ़, टिकारी, डुमरांव, सुरसरि, बलरामपुर जैसे हिन्दू रजवाड़ों के उत्थान को देखकर ही सम्भवतः कुछ इतिहासकारों ने अठारहवीं शताब्दी को हिन्दू पुनरुत्थान का युग कहा है।³³ इन रजवाड़ों में रामचरितमानस को बड़े पैमाने पर संरक्षण प्राप्त हुआ। इन दरबारों में न सिर्फ मानस की असंख्य प्रतिलिपियाँ, टीकाएं एवं लघु-चित्र तैयार करवाई गई बल्कि कथा-वाचन, प्रवचन एवं राम-लीलाओं का नियमित आयोजन भी बड़े पैमाने पर शुरू किया गया। यही नहीं बल्कि इन रजवाड़ों में कन्या को शिक्षा के नाम पर तुलसीदास के रामचरितमानस को ही पढ़ाया-लिखाया जाने लगा।³⁴ यहाँ

प्रश्न उठता है कि आखिर इतने बड़े पैमाने पर रामचरितमानस को संरक्षण प्रदान करने के क्या अभिप्राय रहे होंगे ?

मानस को सर्वाधिक संरक्षण काशी नरेश के दरबार में प्राप्त हुआ। बनारस राज के संस्थापक मंशाराम की पृष्ठभूमि 'राजोचित' नहीं थी, न वे किसी राज-परिवार से ताल्लुक रखते थे न उनकी जाति (भूमिहार) शासन पर उनका 'स्वाभाविक' अधिकार सिद्ध करता था। ऐसे में, खुद अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए और अपने शासन को वैध ठहारने के लिए और जनता में स्वीकृत एवं मान्य होने के लिए उन्हें पता था कि कला को संरक्षण प्रदान करना बड़ा लाभकारी होता है। संरक्षण पर विचार करने वाले अध्येताओं ने यह निष्कर्ष भी निकाला है कि संरक्षण के सहारे कुछ इस प्रकार का संगठन खड़ा हो जाता है जो न सिर्फ संरक्षक की श्रेणीबद्ध स्थिति को वैध ठहराता है बल्कि सामाजिक नियंत्रण में भी काफी कारगर सिद्ध होता है।³⁵ यूँ अन्तिम वास्तविक क्षत्रिय तो पाँचवीं शताब्दी ई.पू. के नंद सम्राट थे³⁶ लेकिन शिवाजी महाराज के राज्यरोहण³⁷ से सीख लेते हुए पूरे अठारहवीं शताब्दी में क्षत्रिय बनने की होड़ सी लगी हुई थी। संरक्षण प्राप्त भाटों एवं चारणों का तो मुख्य धर्म ही यह था कि वे मिथकों एवं कल्पित वंशावलियों के सहारे निचली जातियों को क्षत्रिय में तब्दील कर दें।³⁸ इस सन्दर्भ में भूषण के 'शिव बावनी', काशी नरेश चेत सिंह के दरबारी कवि बलभद्र रचित 'चेतसिंह विलास' तथा बलवंत सिंह के दरबारियों द्वारा लिखित 'बलवंतनामा' का अध्ययन दिलचस्प हो सकता है।

क्षत्रिय नायक वाले इस महाकाव्य को अगर अठारहवीं शताब्दी के हिन्दू रजवाड़े हाथों हाथ ले रहे थे तो इसका एक कारण सम्भवतः तत्कालीन शक्तिशाली रामानंदी सम्प्रदाय से अपना सम्बन्ध मजबूत करने की उनकी लालसा भी थी। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि "वैष्णवों के 52 द्वारों में 36 द्वारे अकेले रामानंदी सम्प्रदाय के ही हो गए थे"³⁹ और उत्तर-भारत के एक

बड़े हिस्से पर उनका व्यापारिक प्रभुत्व भी स्थापित था। अपने धार्मिक संस्थानों की रक्षा और सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार के लिए रामानंदी स्वयं राज्य संरक्षण की आवश्यकता महसूस कर रहे थे। यह अलग बात है कि जब उन्हें यह संरक्षण मिला तब उन्हें अपने मूल कायदे कानून बदलने पड़े। वहाँ उनके सम्प्रदाय में शूद्र, अछूत, मुसलमान एवं स्त्रियाँ सभी का स्वागत था अब सिर्फ द्विज पुरुष ही प्रवेश पा सकते थे और महन्त ब्राह्मण और सिर्फ ब्राह्मण ही हो सकता था।⁴⁰ स्पष्ट है कि संरक्षण की गतिकी ने संस्कृतिकरण का मुँह खोल दिया था। अठारहवीं शताब्दी में संस्कृतिकरण की यह प्रक्रिया सिर्फ वैष्णवों में ही देखने को नहीं मिलती बल्कि शैव उदासी जैसे उग्र सम्प्रदाय में भी देखने को मिलती है।⁴¹ संस्कृत विश्वविद्यालय को स्थापित कर संस्कृतिकरण के सहारे अपनी हैसियत और प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयास हमें गरीबदासी सम्प्रदाय में भी देखने को मिलता है।⁴² संस्कृतिकरण की यह प्रक्रिया इतनी सर्वग्रासी हो चुकी थी कि मानस को “कतिपय पंडितों ने इसका संस्कृत अनुवाद अक्षरशः करके यह दावा किया कि श्री शिव जी रचित-रामायण यहीं है, इसी का अनुवाद तुलसीकृत रामचरितमानस है।”⁴³

काशी नरेश द्वारा पोषित एवं संरक्षित रामनगर की रामलीला विश्वविख्यात है। इस रामलीला की संरचना में काशी नरेश की भूमिका न सिर्फ केन्द्रीय है बल्कि वहाँ वे भगवान शंकर के प्रतिनिधि भी हैं।⁴⁴ रामलीला का प्रारंभ ही काशी नरेश के ‘संकल्प’ द्वारा होता है। “इस संकल्प का उद्देश्य श्री रामलीला के अभिनय से राजा, प्रजा तथा देखने, सुनने वाले और कार्यकर्ताओं का कल्याण होना है।”⁴⁵ इस रामलीला की विशेषता यह है कि इसे सिर्फ देखा ही नहीं जाता बल्कि पढ़ा और सुना भी जाता है लेकिन यहाँ दर्शक-दीर्घा का कोई विधान नहीं है, रामनगर दुर्ग (राजा का निवास) के आसपास के पन्द्रह से बीस वर्गमील के पूरे क्षेत्र को ही एक विशाल मंच एवं दर्शक-दीर्घा का नाम

दिया जा सकता है। "रामलीला की घटनाओं के स्थल नियत हैं, पात्र वहाँ अपना कार्य करते हैं। दर्शक सुविधानुसार उस कार्य-कलाप में शामिल होकर स्वयं पात्र बन जाते हैं। अवध में वे अवध के नागरिक होते हैं, तो वनगमन में ग्रामवासी, राम-बाराती में वे बाराती बनते हैं तो रावण के दरबार में दरबारी। ... मंच की विशालता केवल एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। आज अंगद विस्तार की लीला है। प्रभु सुवेल पर्वत पर विराजमान हैं। यहाँ से अंगद जी आज्ञा लेकर रावण के दरबार की ओर चलते हैं जो आधा मील दूर है। उधर रावण एक उँचे टीले पर स्थित अपने महल में राग-रंग में मस्त है और वहाँ से एक फर्लांग चलकर दरबार में आता है। सीता जी दरबार से दो फर्लांग दूर अशोक वाटिका में भक्त स्त्रियों से घिरी बैठी हैं। यहाँ से न रावण-दरबार दिखाता है, न सुवेल पर्वत। आप चाहें तो पात्रों के साथ मीलों की यात्रा करें या फिर लीला को भूलकर सीता माता या प्रभु के चरणों में बैठे रहें।"⁴⁶ रंगमंचीय दृष्टि से यह रामलीला एक अद्वितीय एवं लगभग अकल्पनीय कल्पनाशीलता का प्रत्यक्षीकरण है।⁴⁷

रामनगर की रामलीला में काशी नरेश हाथी पर आरूढ़ रहते हैं और उनके हाथ में मानस की एक प्रति होती है और ठीक उनके पाँव के नीचे पीली पगड़ी बाँधे बारह रामायणी बैठे होते हैं जो झाँझ और मृदंग के साथ दो दलों में बँटकर रामचरितमानस का प्रसंगानुसार सस्वर पाठ करते हैं अतः नरेश उसे स्पष्टतः सुन सकते हैं और चूँकि उतनी ऊँचाई पर और कोई बैठा नहीं होता इसलिए सामने घटित होती लीला को वे सर्वाधिक आयामों में देख सकने की स्थिति में होते हैं। इस प्रकार वे 'पाठ', 'दृश्य' एवं 'श्रव्य' तीनों का रसास्वाद कर सकते हैं जब कि दर्शक इसमें सिर्फ एक का चुनाव कर सकता है।⁴⁸ स्पष्टतः इस रामलीला की रंगयोजना से नरेश की केन्द्रीय एवं सर्वोच्च स्थिति प्रतिष्ठित होती है। कला को संरक्षण देकर राजा, प्रजा से अक्सर अपनी

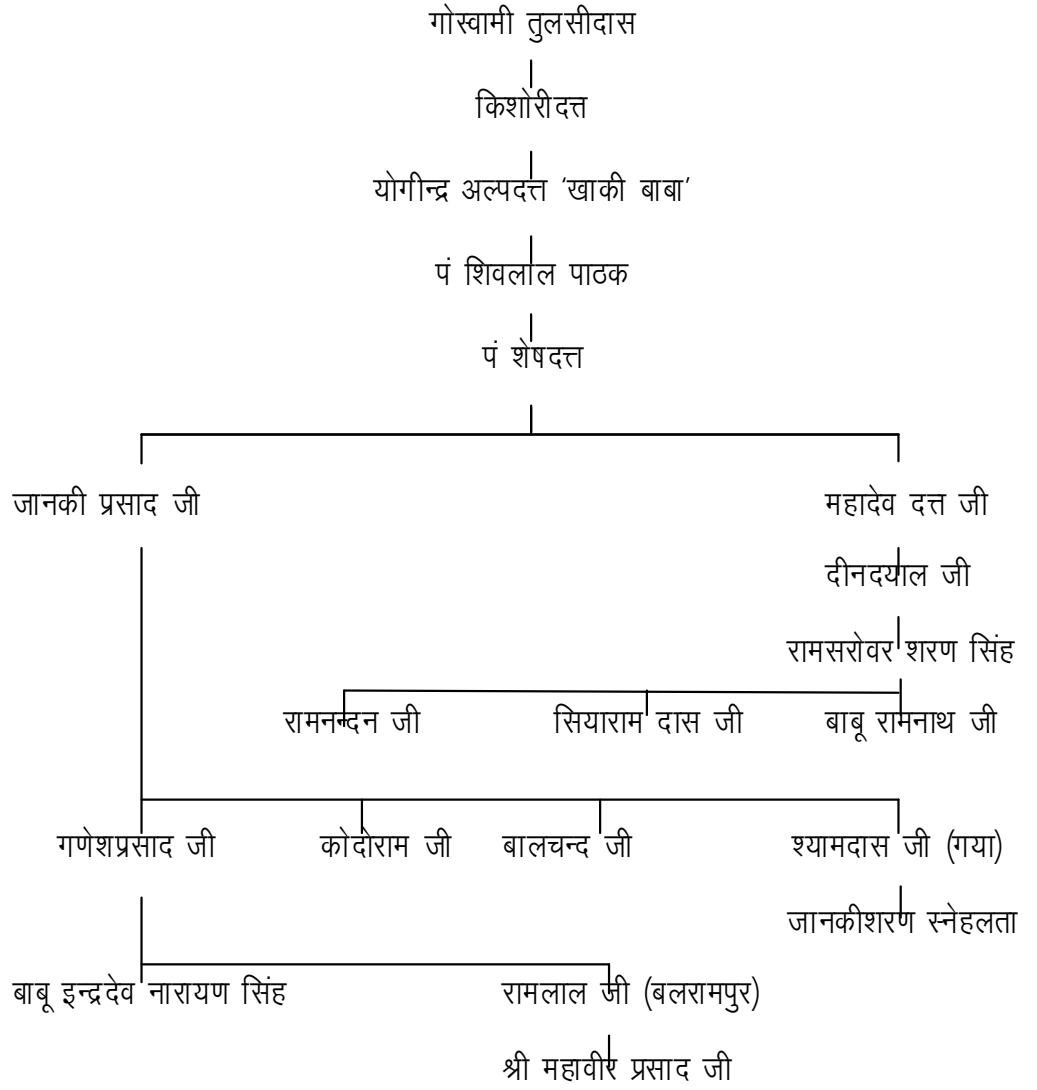
भिन्नता को दृढ़ता से रेखांकित करता है।⁴⁹ कालांतर में राजा की वह स्थिति 'स्वाभाविक' मान ली जाती हैं। इस सन्दर्भ में रामनगर की रामलीला पर यह अखबारी रपट द्रष्टव्य है : "आज रामलीला में जाने के लिए रामनगर दुर्ग से बाहर महाराज कुमार अनन्त नारायण सिंह की सवारी ले जाने के लिए घोड़ों से जुती बग्घी तैयार थी। परम्परानुसार सवारी में सबसे आगे बनारस स्टेट का झंडा लिए घुड़सवार, उसके पीछे महाराज के आने की सूचना देने वाली मुनाड़ी घुड़सवार तथा नागरिक पुलिस के चार घुड़सवार तैयार थे। बाहर हजारों की तादाद में लीला-प्रेमियों की आँखें इस सवारी के दर्शन को बेताब थी। अचानक किले से फरमान आता है महाराज कार से जायेंगे। और कार से ही निकले महाराज कुमार। हर-हर महादेव का गगन भेदी उद्घोष हुआ। लेकिन सब जानने को उत्सुक थे कि आखिर क्यों महाराज बग्घी से नहीं गये। किले के लोगों ने बताया कि आज लीला में जाने के पूर्व जैसे ही पूजा-पाठ की तैयारी शुरू हुई महाराज कुमार पूर्व काशी नरेश को याद करके खूब रोये और वह बग्घी से जाने की हिम्मत नहीं जुटा पाये। शाम के अँधेरे में भी उन्होंने चश्मा पहन रखा था सिर्फ लाल आँख छिपाने के लिए। आज सवारी निकालते समय परम्परागत रूप से बनजे वाली नौबत भी नहीं बजायी गयी। आज लीला में यह आशंका निर्मूल साबित हुई कि हर-हर महादेव का उद्घोष नहीं होगा। रामनगर किले से लेकर रामलीला स्थल तक हर-हर महादेव का उद्घोष हुआ जिससे यह लगा कि लोगों ने महाराज कुमार में काशी नरेश की छवि देख ली है बारिश शुरू हो गई लेकिन कोई भी अपने स्थान से डिगा नहीं और आरती लेने के बाद ही लीला-स्थल छोड़ा।"⁵⁰

कृष्ण रास-लीला के समानान्तर रामलीला को प्रचलित करने का श्रेय मुख्यतः रामानंदी साधुओं को जाता है। इस सन्दर्भ में दो रामानंदी वैष्णवों की अहम् भूमिका है एक तो नारायण दास उर्फ मेघ भगत तथा दूसरे काष्ठजिहवा

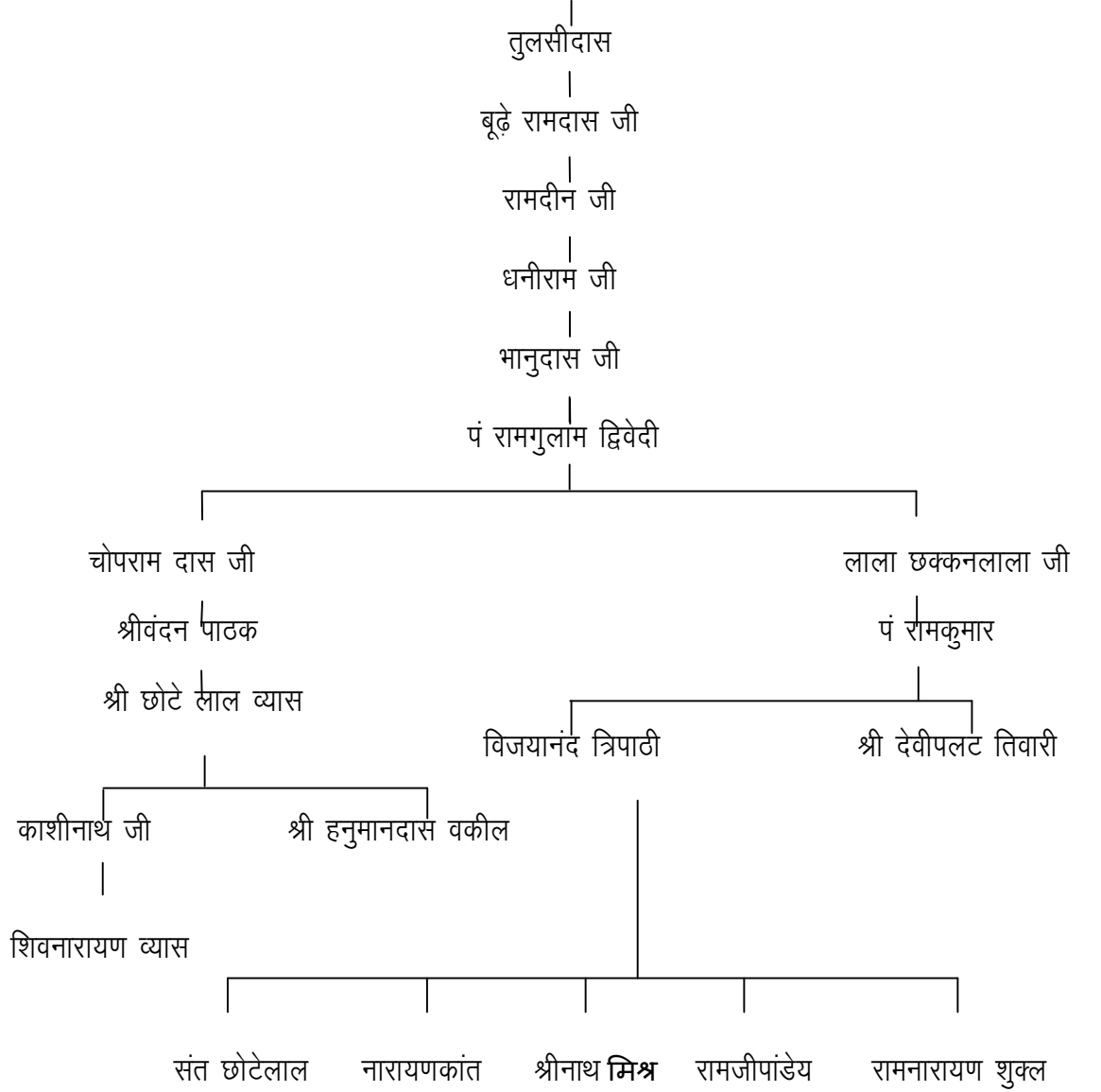
स्वामी। यूँ तो जनश्रुतियाँ यही कहती हैं कि आज हिन्दी-भाषी प्रांतों में जिस रूप में रामलीला प्रचलित है उसके प्रवर्तक तुलसीदास हैं। कृष्ण दत्त मिश्र की लिखी 'गौतमचन्द्रिका' में भी रामलीला का प्रवर्तन करते हुए तुलसीदास को दिखाया गया है।⁵¹ लेकिन रामलीला-विशेषज्ञों ने बनारस की चित्रकूट की रामलीला को सर्वाधिक प्राचीन रामलीला माना है जिसकी स्थापना मेघा भगत द्वारा सन् 1543 के आस-पास हुई मानी जाती है।⁵² वैसे कुछ आलोचक एक अन्य रामानंदी साधु स्वामी भगवानदास जी द्वारा स्थापित अवध आदर्श रामलीला मंडल को सर्वाधिक प्राचीन मानते हैं।⁵³ नोरविन हेन के अनुमान से मानस की प्रथम प्रस्तुति मंच पर 1625 ई. के आसपास हुई।⁵⁴ ऐतिहासिक रूप से सर्वाधिक प्राचीन रामलीला चाहे जो है इतना तो तय है कि रामचरितमानस को आधार बनाकर जिस लीला ने लोक मानस की कल्पनाशीलता को सर्वाधिक उद्वेलित किया वह रामनगर की रामलीला थी और उन्नीसवीं शताब्दी में जिसको स्थापित करने में रामानंदी काष्ठजिहवा स्वामी की भूमिका जगजाहिर है। काष्ठजिहवा स्वामी न सिर्फ काशी नरेश ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह (1821-89) के गुरु थे बल्कि रामनगर की रामलीला के पटकथा-लेखकों में प्रमुख थे। आज भी उनके कई पद रामनगर की रामलीला में गाये जाते हैं। यही नहीं बल्कि रामलीला के अंत में गायी जाने वाली आरती के दोनों पद स्वामी जी की पुस्तक 'राम-सुधा' (1840) से ही लिये गए हैं।⁵⁵ आज उत्तर भारत के प्रायः हर शहर में रामलीला की मंडलियाँ देखी जा सकती हैं जो अधिकतर राचरितमानस पर आधारित लीलाएँ ही करती हैं। रामलीलाओं ने मानस को प्रचारित-प्रसारित करने में निःसंदेह एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

रामलीला के अलावा 'कथा' द्वारा भी मानस का प्रचार-प्रसार हुआ। कथा में मानस की व्याख्या भी होती थी इसलिए आश्चर्य नहीं कि आरंभ के सभी कथावाचक जो सामान्यतः व्यास कहलाते हैं मानस के टीकाकार भी हुए।

प्रिंटिंग प्रेस के आने के पहले मानस को लोकप्रिय इन्हीं व्यासों ने किया। जनश्रुतियों के अनुसार गोस्वामी तुलसीदास ने मानस को प्रचारित करने के लिए स्वयं कुछ शिष्यों को शिक्षित किया था।⁵⁶ अध्येताओं ने ऐसे पाँच शिष्यों का उल्लेख किया है: किशोरीदत्त, बूढ़े रामदास जी, रामू द्विवेदी, जनजसवंत जी तथा आनन्द राम।⁵⁷ इसमें किशोरी दत्त एवं बूढ़े रामदास जी द्वारा प्रवर्तित टीकाकार परम्पराएँ आज तक चल रही हैं, जिसका वृक्ष-चित्र यँ तैयार किया है⁵⁸ :



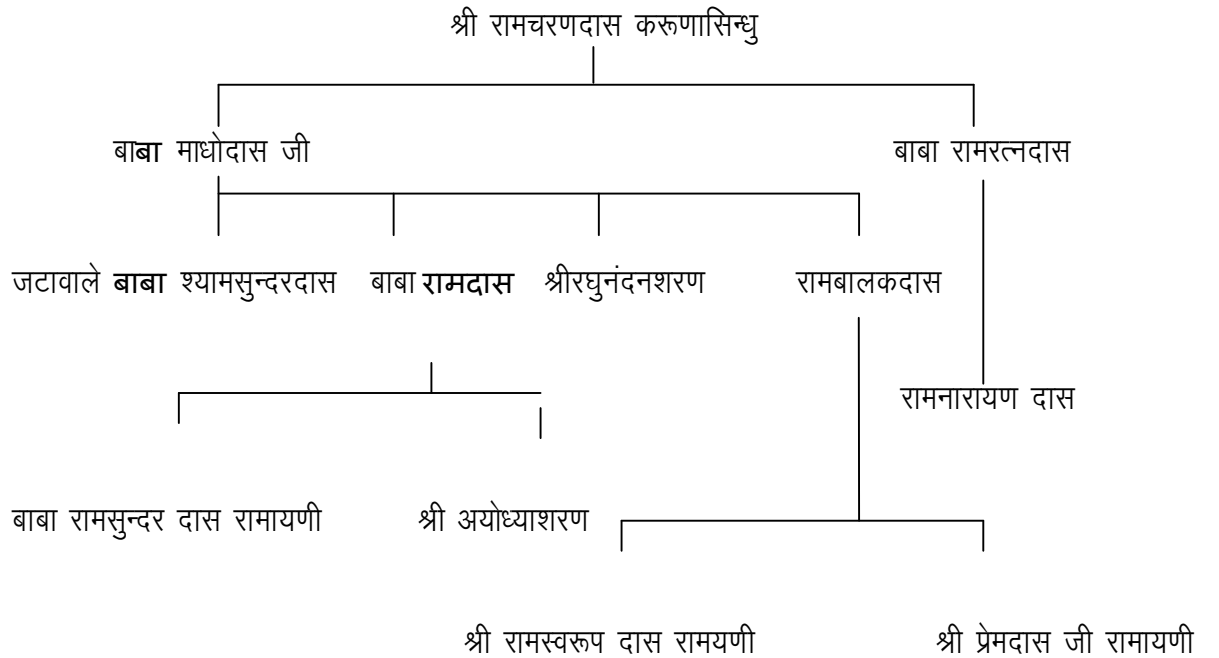
बूढ़े रामदास जी द्वारा प्रवर्तित टीकाकार परंपरा का एक वृक्ष-चित्र



गोस्वामी तुलसीदास की शिष्य-परम्परा से अलग हटकर भी कुछ टीकाकार-परम्पराएँ विकसित हुईं जिसमें अयोध्या एवं रामनगर में विकसित होने वाली परंपरा का एक अलग ही स्थान है। अयोध्या की परंपरा की नीव मानस की आनन्दलहरी जी ने लिखा है कि, "रामचरितमानस की कथा

श्रीजानकीघाट पर आप कहा करते थे। अनुमान होता है कि रीवाँनरेश की प्रार्थना पर आपने मानस का तिलक लिखना लिखाना प्रारम्भ किया। क्योंकि बराबर पुराने वयोवृद्ध संतों से यही सुनने में आया है कि राजा की ओर से उनके खर्च से बारह विद्वान पंडित लेखक महाराज करुणासिन्धु जी की सहायता में रहते थे। बारह वर्षों में यह तिलक सम्पूर्ण हुआ और उसके पश्चात् तीन वर्ष में उसकी कथा आद्योपांत श्रीजानकी घाट पर संत समाज में सुनाई गयी। ...कम से कम इस संयुक्त प्रदेश में तो यह तिलक ही मानस का प्रथम तिलक हुआ।⁵⁹

अयोध्या की टीकाकार परंपरा का वृक्ष-चित्र त्रिभुवन नाथ चौबे ने इस प्रकार बनाया है⁶⁰



मानस की रामायण परिचर्या टीका लिखकर काष्ठजिहवा स्वामी ने रामनगर में टीकाकार परम्परा की शुरुआत की जिसे ईश्वरीनारायण सिंह एवं बाबा हरिहरप्रसाद सीतारामीय ने आगे बढ़ाया। रघुनाथ दास 'सिंधी' की मानस दीपिका का भी इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण स्थान हैं जिसमें मानस की तीन टीकाओं का उल्लेख है। पहली टीका रामलीला के रूप में दूसरी टीका चित्र—रामायण के रूप में और तीसरी टीका प्रस्तुत मानस—दीपिका के रूप में।

सन् 1605 ई. में रचित मानस की पहली टीका रामू द्विवेदी की 'प्रेम रामायण' से लेकर योगेंद्र प्रताप सिंह की लोक भारती टीका (1999) तक मानस पर लगभग सवा सौ टीकाएं लिखी गई हैं जिसमें सुधाकर भाष्य⁶¹ जैसी भी टीकाएं हैं जिसमें मानस की एक अर्द्धाली का पौने सत्रह लाख से भी अधिक (1675146) अर्थ बताया गया है।⁶² यह मानस की अपूर्व लोकप्रियता का ही परिचायक है कि रचे जाने के दो दशक बाद ही इस पर टीका लिखा जाना आरम्भ हो गया और अमृतसर में बैठे ज्ञानी संत सिंह 'पंजाबी जी' की लिखी टीका 'भाव—प्रकाश' से यही लगता है कि 1820 ई. तक यह रचना सुदूर उत्तर तक फैल चुकी थी। आश्चर्य नहीं कि संस्कृत के वे विद्वान जो हिन्दी के इस ग्रंथ के घोर विरोधी थे (और जिसके कारण तुलसी को बनारस में क्या क्या नहीं सहना पड़ा!) अपनी जीविका के लिए इसे अपनाने को बाध्य हुए।⁶³ कथा बाँचने वालों के बीच मानस ने पुराण को अपदस्थ कर दिया था।

अठारहवीं शताब्दी के राजाओं ने न सिर्फ कथा—वाचकों को संरक्षण प्रदान किया बल्कि मानस की प्रतिलिपियाँ तैयार करवाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। काशी नरेश उदितनारायण सिंह (1783—1835) ने न सिर्फ रामनगर की रामलीला को पुनर्संगठित किया बल्कि मानस की कई प्रतिलिपियाँ बनवाईं। इनके पुत्र ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह (1821—89) के युग को 'मानस का स्वर्ण—युग' कहा जाता है। इनके ही युग में मानस के पाठानुसंधान का

काम आरंभ हुआ। उन्होंने यह घोषणा भी कर रखी थी कि जो भी तुलसी के स्वाक्षर में लिखी पोथी लाकर देगा उसे पोथी के ही वजन का सोना तौलकर दिया जायगा।⁶⁴ इसी प्रकार रीवां राज्य में भी मानस को भरपूर संरक्षण मिला। रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह (1789–1854) स्वयं एक दीक्षित रामभक्त एवं कवि थे। उनके कई ग्रंथ रामचरित पर आधारित हैं। इनके पुत्र रघुराज सिंह (1823–79) भी कवि एवं रामभक्त थे जिन्होंने अपने शासन-काल में मानस को भरपूर संरक्षण प्रदान किया। डुमराँव राज्य भी मानस का एक प्रमुख संरक्षक राज्य था। यहाँ गोपालशरण सिंह के संरक्षण में शिवलाल पाठक द्वारा प्रसिद्ध टीका 'मानस अभिप्राय दीपक' लिखा गया।

मानस की चित्रांकित पांडुलिपियाँ भी सत्रहवीं शताब्दी से मिलने लगती हैं। और अगर उस युग के सम्प्रेषण-साधनों की स्थिति को ध्यान में रखें तो यह आश्चर्यजनक लगता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के आते-आते बंगाल से लेकर कश्मीर तक प्रायः सभी प्रमुख चित्र-शैलियों से सज्जित रामचरितमानस की पांडुलिपियाँ तैयार की गईं। फिर प्रिंटिंग-प्रेस के स्थापित होने पर कैलेंडर आर्ट से मानस को सजाया जाने लगा तो दूसरी तरफ मिथिला कला जैसी लोक कलाएँ जब 'आधुनिक' होने की प्रक्रिया में थीं तब रामचरितमानस का आश्रय ग्रहण किया गया। आधुनिक काल के भी कुछ चित्रकारों ने रामचरितमानस को चित्रित करने का प्रयास किया है। यह भी एक उल्लेखनीय तथ्य है कि रामचरितमानस के पाठालोचन में इन चित्रित पांडुलिपियों की भूमिका को अब तक नहीं पहचाना गया है।

उन्नीसवीं शताब्दी में मुद्रण यंत्र एवं औपनिवेशिक शासन के स्थापित होते ही मानस को एक नयी स्थिति का सामना करना पड़ा। अब मानस की प्रतिलिपि रामानंदी साधुओं एवं देशी रजवाड़ों की निजी सम्पत्ति न होकर सही

अर्थों में सर्वसुलभ हो गया था। अंग्रेजी में मानस का प्रथम अनुवाद करने वाले ग्राउज ने 1891 ई. में इस ग्रंथ को दरबार से लेकर झोंपड़ी तक और हिंदुओं के सभी वर्णों में चाहे वे उच्च वर्ग के हों या निम्न वर्ग के धनवान हों या गरीब, जवान हों या बूढ़े सबों में प्रशंसित एवं स्वीकृत पाया था।⁶⁵ आगे चलकर इसी बात की पुष्टि ग्रियर्सन भी करते हैं: “यदि थोड़ी देर के लिए मानस के साहित्यिक महत्व पर हम विचार न भी करें तो भी उसकी सार्वभौम स्वीकृति के संबंध में अत्यंत विनम्रतापूर्वक स्वीकार करना पड़ेगा कि भागलपुर से पंजाब तथा हिमालय से नर्मदा तक इसका प्रचार एवं प्रसार है।” और फिर उन्होंने यह भी कहा कि “यह महान ग्रंथ नौ करोड़ व्यक्तियों के लिए वैसा ही आदरणीय एवं मान्य है जैसी ईसाइयों के लिए बाइबिल...”⁶⁶

एक मौखिक परंपरा वाले देश में जहाँ साक्षरता का प्रतिशत 40 भी न हो, “नौ करोड़ व्यक्तियों के लिए बाइबिल की तरह आदरणीय एवं मान्य” ग्रंथ बनने के लिए स्पष्ट है कि मुद्रण यंत्र के अलावे और भी कुछ अपेक्षित रहा होगा। उत्तर भारत में पुराण बाँचने की एक जीवंत परंपरा चली आ रही थी। पुराणों के फलश्रुतियों वाले अंशों को देखकर यही लगता है कि भारत जैसे मौखिक परंपरा वाले देश में श्रवण, पारायण की अहमियत को पुराणकारों ने बहुत पहले ही समझ लिया था। श्रवण—पारायण द्वारा पाठ को प्रचारित प्रसारित करने की यही युक्ति मानस पर भी आजमाया गया। अगर ‘मूल गोसाईं चरित’ पर विश्वास करें तो यह युक्ति स्वयं तुलसीदास ने अपनायी थी। लेकिन मानस की प्राचीन पाण्डुलिपियों पर अनुसंधान करने वाले अध्येयताओं के अनुसार 1862 ई. में माधवादास द्वारा सम्पादित मानस के पहले कोई ऐसी पाण्डुलिपि नहीं मिलती जिसमें पारायण का उल्लेख किया गया हो।⁶⁷ अनुमान किया जा सकता है कि मानस के नवाह्य एवं मास पारायण की लोक—व्याप्ति मानस के मुद्रण के साथ ही आरम्भ हुई होगी।

रामचरितमानस का सर्वप्रथम मुद्रण फोर्ट विलियम कॉलेज के संरक्षण में बाबू राम पंडित के संस्कृत प्रेस. से 1811 ई. में कलकत्ता में हुआ। यह पाँच सौ पृष्ठ का, सदल मिश्र द्वारा लिप्यंतरित संस्करण था।⁶⁸ कलकत्ता से ही 1831 ई. में बिहार प्रेस द्वारा 444 पृष्ठों का एक और 'तुलसी-रामायण' मुद्रित हुआ।⁶⁹ 1832 ई. में कानपुर से 1849 ई. में आगरा से, 1851 ई. में मेरठ से, 1853 ई. में बनारस से 1881 ई. में सुखदेव लाल की टीका के साथ तथा 1821 ई. में बैजनाथ कुर्मी की टीका के साथ नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से मानस का मुद्रण हुआ। सन् 1870 ई. में लाहौर तथा दिल्ली से गुरुमुखी लिपि में तथा 1880 के दशक में बंगला उड़िया एवं गुजराती लिपि में इसके प्रकाशन से मानस की लोकप्रियता का पता चलता है। 1889 ई. में खड्ग विलास प्रेस, पटना से प्रकाशित होते वक्त मानस के 126 संस्करण निकल चुके थे।⁷⁰ आखिर इस लोकप्रियता का कारण क्या था ? न सिर्फ नवाह्य एवं मास पारायण करने वाले कथा-वाचकों एवं आयोजक श्रोताओं के बीच बल्कि औद्योगिक क्रांति की कोख से जन्मे 'प्रबुद्ध' औपनिवेशक शासकों के मध्य भी आखिर यह रचना क्यों लोकप्रिय हो रही थी ?

इंगलैंड से भारत आने वाले औपनिवेशक शासकों का प्रथम दल भारतीय सभ्यता को 'समझने' के लिए इस्लाम-पूर्व भारत और संस्कृत को उपयुक्त समझता था। यह अकारण नहीं है कि विलियम जॉस (1746-1794) की पीढ़ी के कोलब्रुक, विलकिन्सन, वेलेंटाइन सभी प्राच्यविद्-अधिकारी ब्राह्मण मनीषी-वर्ग के सहारे संस्कृत की परंपरा का बौद्धिक पुनरुत्थान चाहते थे। इनकी दृष्टि में भारत का मध्य-काल न सिर्फ एक अंधकार-युग था बल्कि वर्तमान विकृतियों के लिए जिम्मेदार भी था। लेकिन प्राच्यविदों की दूसरी पीढ़ी - ग्रियर्सन, टेम्पुल, ओडोनल, मेक्डोनल, ग्राउज, क्रुक की पीढ़ी की सोच कुछ दूसरे ढंग की थी। ये मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन को सहानुभूति से देखते थे

क्योंकि एक तो वो सर हेनरी मेन के प्रभाव में तत्कालीन केल्टिक सांस्कृतिक पुनरुत्थान से स्वयं जुड़े थे⁷¹ और जैसा कि इतिहासकार बेली ने लिखा है वो अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त उच्च वर्ग के उपनिवेश-विराधी राष्ट्रवाद को नैतिक राष्ट्रवाद से विस्थापित करना चाहते थे।⁷² ये विक्टोरियन नैतिकता के भी प्रबल आग्रही थे। यह अकारण नहीं है कि न सिर्फ ईसाई धर्म-प्रचारकों की दृष्टि बल्कि ग्रियर्सन जैसे प्रबुद्ध शिक्षाविदों की निगाह में भी हिन्दू धर्म का सर्वाधिक घृणास्पद पक्ष उसकी 'एन्द्रिकता' था। 1824-25 में भारत-यात्रा करते हुए बिशप हेबर को जब यह पता चला कि सहजानन्द सरस्वती कृष्णोपासक हैं तो उन्हें धक्का-सा लगा क्योंकि कृष्ण का नाम उनकी निगाह में 'अश्लीलता एवं विकराल पागलपन' से जुड़ा था।⁷³ वस्तुतः कृष्ण की उदात्त सौन्दर्यानुभूति एवं सहज श्रृंगारिकता के बदले हेबर एवं ग्रियर्सन की पीढ़ी के सामने उन्नीसवीं शताब्दी की पतित पुष्टिमार्गीय मंदिरों की आनुष्ठानिक विलासमय झांकियाँ थीं और जिसकी वास्तविकता 'महाराज के अवमानना वाले मुकदमे' से जगजाहिर हो चुकी थी।

महाराज के अवमानना का मुकदमा वारेन हेस्टिंग्स के मुकदमे के बाद का सबसे सनसनीखेज मुकदमा माना जाता है। इस मुकदमे का भारतीय इतिहास पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। पुष्टि-मार्ग में भक्त और भगवान के बीच गुरु की भूमिका, जिसे वहाँ महाराज कहा जाता है एक अपरिहार्य मध्यस्थ की मानी गयी है। वल्लभाचार्य के अनुसार भक्त के पास जो कुछ है वह मंदिर का है यानि गुरु का है, महाराज का है। कालान्तर में भक्त की सम्पत्ति के साथ-साथ भक्त की पत्नी एवं पुत्री भी गुरु की सम्पत्ति मान ली गई। इस पुष्टिमार्गीय व्यभिचार के खिलाफ करसन दास मुल जी नामक व्यक्ति ने अक्टूबर 1860 को अपने अखबार 'सत्यप्रकाश' में जम कर आक्षेप किया। महाराज ने पत्र के संपादक एवं प्रकाशक पर अवमानना का मुकदमा ठोक

दिया। इस मुकदमे की सुनवाई के दौरान पुष्टिमार्गीय मंदिरों की सनसनीखेज सच्चाईयों लोगों के सामने खुलकर स्पष्ट हुई। यह तथ्य भी सामने आया कि महाराज यौन-रोग से पीड़ित थे। फैसला महाराज के खिलाफ सुनाया गया। अपने फैसले में अंग्रेज न्यायाधीश ने लिखा कि "हम लोगों के समक्ष प्रश्न धर्मशास्त्र का नहीं है बल्कि नैतिकता का है... जो नैतिक रूप से गलत है वह धर्मशास्त्रीय दृष्टि से सही नहीं हो सकता।"⁷⁴ इस मुकदमे ने जर्गेन लुट के अनुसार सहजानंद, भारतेन्दु, बंकिम, दयानंद एवं गाँधी जैसे पुष्टि मार्ग से जुड़े व्यक्तियों को कृष्ण-लीला के स्थान पर राम-राज्य की कल्पना के लिए प्रेरित किया।⁷⁵ लीला पुरुषोत्तम कृष्ण के स्थान पर मर्यादा पुरुषोत्तम राम की स्थापना यहीं से शुरू हुई। ऐसे में मानस को केन्द्रीय स्थान मिलना ही था। ग्रियर्सन लिखते हैं: "जब हम तंत्रग्रस्त बंगाल के भाग्य पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं अथवा कृष्ण-पूजा के नाम पर होने वाले विलासपूर्ण कृत्यों पर दृष्टिपात करते हैं तब हम तुलसीदास जी के महत्व का मूल्यांकन कर पाते हैं, जिन्होंने उत्तर-भारत में सर्वप्रथम संसार के पापों की जघन्यता एवं भगवान की अनन्त दया की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए कहा था - 'चाहे कोई छोटा हो या बड़ा, जो भगवान से पूर्ण प्रेम करता है वही पूर्ण प्रार्थना भी करता है।' किन्तु गोस्वामी जी ने इस आदर्शमय धर्म का केवल उपदेश ही नहीं दिया अपितु जनता द्वारा इसे स्वीकृत कराने में भी उन्हें सफलता मिली। उन्होंने कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया और न कोई धार्मिक सिद्धांत ही स्थिर किये तथापि उनका महान ग्रंथ नौ करोड़ व्यक्तियों के लिए वैसा ही आदरणीय एवं मान्य है जैसी ईसाइयों के लिए बाइबिल और यह उन लोगों के लिए सौभाग्य की बात है कि ऐसे ग्रंथ का उन्हें पथप्रदर्शन प्राप्त है। जनता के लिए रामचरितमानस आदर्श-सिद्ध ग्रंथ है।"⁷⁶ इसलिए न सिर्फ फोर्ट विलियम कालेज के पाठ्यक्रम में इस 'आदर्श-सिद्ध ग्रंथ' को स्थान दिया गया बल्कि जब कॉलेज की तरफ से विलियम प्राइस ने तरुणि चरण मित्र के सहयोग से हिन्दी हिन्दुस्तानी

ब्रजभाषा का व्याकरण तैयार किया तो मानस का सुन्दरकांड नमूने के तौर पर सर्वाधिक उपयुक्त पाया गया।⁷⁷ यही नहीं बल्कि जब 1886 ई. में वियना में अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यविद् कांग्रेस हुई तब ग्रियर्सन ने हिन्दुस्तान के मध्यकालीन साहित्य का ब्यौरा तुलसी व मानस को केन्द्र में रखते हुए प्रस्तुत किया। ग्रियर्सन के इस प्रबंध में तुलसी की हस्तलिखित कही जाने वाली राजपुर के प्रति का दस पृष्ठ, बनारस की पुरानी पांडुलिपि का तीन पृष्ठ, पंचनामों में कवि के तथाकथित हस्तलेख का एक पृष्ठ एवं काशी नरेश के संरक्षण में निर्मित मानस के लघुचित्रों के कुछ चित्र—फलक भी संयोजित किये गये थे। ग्रियर्सन के इस प्रबंध का हिन्दी साहित्य के आरम्भिक इतिहासकारों – मिश्रबंधु, रामचन्द्र शुक्ल, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध पर एक गहरा असर लक्षित किया जा सकता है।⁷⁸

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में गीता-प्रेस की स्थापना से मानस के प्रचार में व्यापक वृद्धि हुई। यूँ तो गीता-प्रेस की स्थापना से पहले ही मानस के करीब डेढ़ सौ संस्करण निकल चुके थे लेकिन जिस अनुपात में इसने मिशनरी प्रतिबद्धता के साथ इस हिन्दी ग्रंथ को प्रकाशित करना आरंभ किया, वह अतुलनीय है। जयदयाल गोयंदका द्वारा स्थापित इस प्रेस से हनुमान प्रसाद पोद्दार ने 'कल्याण' पत्रिका निकालना आरम्भ किया। कहा यह भी जाता है इस पत्रिका को निकालने के लिए ही गीता प्रेस की स्थापना की गयी थी।⁷⁹ जो भी हो कल्याण पत्रिका का मानसांक अगस्त 1938 ई. में प्रकाशित हुआ। चालीस हजार छः सौ (40,600) प्रतियों वाला यह विशेषांक तत्काल बिक गया तब से गीता-प्रेस रामचरितमानस के कई आकार प्रकारों में हजारों संस्करण प्रस्तुत कर चुका है।⁸⁰ आज गीता-प्रेस की कुल आमदनी का चालीस प्रतिशत सिर्फ रामचरितमानस की बिक्री से आता है।⁸¹ मानस को नागरी प्रचारिणी सभा, लोकभारती प्रकाशन, वाणी प्रकाशन, काशीराज ट्रस्ट, वेंकटेश्वर प्रेस जैसे सभी

महत्वपूर्ण प्रकाशकों द्वारा मुद्रित करने के बावजूद हनुमान प्रसाद पोद्दार की टीका एवं चिम्मनलाल गोस्वामी तथा नंद दुलारे बाजपेयी द्वारा पाठशोधित गीता प्रेस का संस्करण ही सर्वाधिक लोकप्रिय है।

रामचरितमानस को बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अगर एक ओर गीता-प्रेस से बढ़ावा मिला तो दूसरी ओर रामानंदी सम्प्रदाय के अन्तर्गत कुछ ऐसे समूहों द्वारा अपनाया गया जो अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए इस रचना को बेहद उपयोगी मानने लगे थे। भारतीय धर्मसाधना के क्षेत्र में भी (अन्य सामाजिक क्षेत्रों की तरह) जातियों के निरंतर संघर्ष को एक अन्तर्निहित उपपाठ की तरह पढ़ा जा सकता है। यह कोई छुपा हुआ रहस्य नहीं है कि वे कौन लोग थे जो रामानंद को 'ब्राह्मण' रामानुजाचार्य का शिष्य मानने से इन्कार कर रहे थे तथा रामानंद को भगवान रामचंद्र का अवतार घोषित कर रहे थे। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में (1918-21) ये क्रांतिकारी रामानंदी जो अधिकांश पिछड़ी जातियों के थे अपने को वैष्णव क्षत्रिय घोषित करने लगे।⁸² मानस इनके लिए अगर एक प्रतिष्ठा बढ़ाने वाला ग्रंथ साबित हुआ तो क्या इसका कारण इस महाकाव्य का वह चारित्रिक गुण है जिसे फिलिप लुटगेनडार्फ ने 'व्यवस्था एवं निरंकुशता के विरोधाभासी तनाव' के रूप में रेखांकित किया है।⁸³

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में मानस का विनियोग सिर्फ क्रांतिकारी रामानंदियों के द्वारा ही नहीं हुआ बल्कि छत्तीसगढ़ के रामनामी सम्प्रदाय एवं बाबा रामचन्द्र के नेतृत्व में अवध किसान आन्दोलन (1919-22) में भी खूब हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में परशुराम नामक एक अछूत चर्मकार ने छत्तीसगढ़ में रामनामी सम्प्रदाय की स्थापना की। जल्द ही यह सम्प्रदाय हरिजनों के धार्मिक जीवन का एक अभिन्न अंग बन गया। इस

सम्प्रदाय ने अधिकृत कृति के तौर पर रामचरितमानस को अपनाया। निरक्षर रामनामी संप्रदाय के बीच मानस 'श्रुति' का अंग थी 'स्मृति' का नहीं और रामनाम मंत्र की तरह था वैदिक 'ओऽम' की तरह। लेकिन आख्यान के रूप में मानस की कहानी इस सम्प्रदाय के लिए स्मृति थी श्रुति नहीं इसलिए वे इसकी व्याख्या, विकास एवं चुनाव अपने मन मुताबिक कर सकते थे। इसलिए वे "बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार/निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार।" 1.192 को बदलकर यूँ गा सकते थे: रामनाम धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार/निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार।" यही नहीं बल्कि जब इस, सम्प्रदाय में शिक्षा एवं दलित-चेतना का प्रसार हुआ तब वे मानस के उन अंशों को, जिसे वे 'गलत' मानते थे, हटाकर तुलसी के ही दोहावली कबीर के बीजक एवं रामसनेही संप्रदाय में प्रचलित 'विश्राम सागर' के पदों को शामिल करने लगे। यह प्रक्रिया उनके लिए अपने धर्मग्रंथ को पूर्ण बनाने की तरह थी। जैसा कि एक रामनामी ने कहा: "रामचरितमानस इतना अच्छा है कि हम उसे खराब नहीं सिर्फ बढ़िया ही कर सकते हैं।"⁸⁴

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानस को अनुकूलित कर उसके उपयोग करने की एक ऐसी ही चेष्टा अवध के किसान आन्दोलन में भी दिखाई पड़ती हैं। अवध के किसानों को अंग्रेजों एवं स्थानीय जमींदारों के उत्पीड़न के खिलाफ लामबंद करने के लिए इस आन्दोलन के नेता बाबा रामचन्द्र ने मानस के माध्यम से धार्मिक प्रतीकों का जम कर प्रयोग किया। यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि भारत में राजनैतिक प्रतिक्रियाएं धार्मिक प्रतीकों में ढलकर ही व्यक्त होती रही हैं।⁸⁵ बाबा का असली नाम रामचन्द्र नहीं बल्कि श्रीधर बलवंत जोधपुरकर था। इन्होंने न सिर्फ अपना नाम बल्कि अभिवादन का एक नया तरीका अपनाया। 'सीताराम' कहकर अभिवादन करने की उनकी शैली अवध के हिन्दू मुसलमान किसानों के बीच साझेपन की एक मिशाल बन

गई। आन्दोलन के जलसों के दौरान "सीताराम" का उच्चारण लोगों को एकजुट करने का आह्वान बन गया।⁸⁶ नेहरू अपनी जीवनी में लिखते हैं: "यूँ तो सीता-राम कहने की एक पुरानी परंपरा थी लेकिन उन्होंने इसे ऐसी अर्थवत्ता प्रदान की कि यह युद्धकालीन आपात-स्थिति का संकेतक तथा विभिन्न गाँवों के बीच साझे का प्रतीक बन गया। फैजाबाद प्रतापगढ़ और रायबरेली – ये जिले अयोध्या राज के हिस्से हैं, जहाँ तुलसी रामायण घर-घर कही जाती है और जिसकी हजारों चौपाइयाँ लोगों के दिलों में बसी हुई हैं।"⁸⁷ बाबा रामचन्द्र ने किसानों को आन्दोलित करने में उनके मानस-ज्ञान का भरपूर लाभ उठाया। सन् 1917 ई. में झिंगुरी सिंह एवं सुखदेव सिंह ने अवध के रूरे ग्राम में किसान सभा स्थापित कर बाबा रामचन्द्र से उसे नेतृत्व प्रदान करने का अनुरोध किया: बाबा ने रूरे पहुँच कर मानस की यह चौपाई सुनाई: "राज समाज बिराजत रूरे। उड़गन महुँ जनु जुग बिधु पूरे।" 1.240.2 बाबा के वक्तृत्व ने किसानों को समझाया कि अर्द्धाली का रूरे कोई अकर्मक क्रिया नहीं बल्कि उनका अपना गाँव रूरे है। बाबा रामचन्द्र का तरीका यह था कि वे अपनी बातों के समर्थन के लिए मानस की पंक्तियों को सन्दर्भ से काटकर उद्धृत करते थे।⁸⁸ अंग्रेजों एवं उनके सहयोगी जमींदारों द्वारा किसानों के उत्पीड़न की उन्होंने इन्द्र की कपट पूर्ण नीतियों से तुलना की: "कपट कुचालि सीवँ सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू।। काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती।।" 2.301.1 और किसानों की स्थिति वन-वन भटकते राम की तरह बतलाया: "राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि भेष फिरहिं बन बनहीं।। अजिन बसन फल असन महि सयन ड़ासि कुसपात। बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरष बात।।" 2.211 उनके अनुसार अंग्रेज ही वह बढ़ई हैं जिन्होंने तालुकदारी व्यवस्था का 'कुजंत्रु' बनाया: मातु कुमात बढ़ई अघ-मूला। तेहिं हमार हित कीन्ह बँसूला।। कति कुकाठ कर कीन्ह कुजंत्रु। गड़ि अवधि पढ़ि कठिन कुमंत्रु।।" 2.211.4 बाबा रामचन्द्र सिर्फ अंग्रेजों

की आलोचना के लिए ही नहीं बल्कि किसान आन्दोलन को एक जुझारू रूप देने के लिए भी मानस का दृष्टांत प्रस्तुत करते थे। भुशुंडि के हवाले से बाबा का कहना था कि कोई कितना भी यत्न से सिचाई करे लेकिन केला काटने से ही फलता है और आप नीच पर जितना भी विनय दिखायें वह डाँटने पर ही सुनेगा: “काटेहिं पड़ कदली फरइ कोटि जतन कोउ सींच। विनय न मान खगेस सुनु डाँटेहि पै नव नीच।।”^{5.58}

एक स्थल पर अपने को रावण एवं किसानों को अपना सैनिक कल्पित करते हुए बाबा रामचन्द्र कहते हैं: “जो रन विमुख सुना मैं काना। सो मैं हतब कराल कृपाणा।।” 6.41.4 अगर मैंने अपने कानों से किसी के युद्ध से भागने की बात सुनी तो मैं अपनी तलवार से उसका वध कर डालूँगा।

बाबा रामचन्द्र के पैम्पलेटों को पढ़ने पर यही ज्ञात होता है कि मानस का प्रयोग भक्ति के लिए नहीं बल्कि अंग्रेजों, जमींदारों, कांग्रेसी नेताओं के दोहरे चरित्र को उद्घाटित करने के लिए किया गया।⁸⁹ सामाजिक परिवर्तन को दिशा देने के लिए हिन्दी के इस काव्य-ग्रंथ का उपयोग काव्य मात्र की उपयोगिता पर एक नई रोशनी डालती है।

यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि बाबा रामचन्द्र ने कहीं भी रामराज्य की बात नहीं की। यही नहीं कि उन्होंने इसका उल्लेख नहीं किया बल्कि कई स्थलों पर वे सन्दर्भ आने पर इससे बचते नजर आते हैं⁹⁰ जबकि दुसरी तरफ राष्ट्रवादी आन्दोलन में और विशेषकर महात्मा गाँधी में रामराज्य की अवधारणा की एक अहम् भूमिका है गांधीजी स्वतंत्र भारत के लिए ‘स्वराज’ से अधिक ‘रामराज’ की कल्पना को स्पृहणीय मानते थे क्योंकि उनके अनुसार रामराज महज राजनैतिक स्वतंत्रता का नाम न होकर एक प्रकार का धर्मराज है।⁹¹ गाँधी जी तुलसी के मानस को न सिर्फ वाल्मीकि रामायण से बड़ी रचना मानते थे⁹² बल्कि सम्पूर्ण भक्ति साहित्य में इसे महानतम कृति का दर्जा देते थे।⁹³

यह अकारण नहीं है कि गाँधी जी के पूरे लेखन में मानस की दोहे-चौपाईयाँ बहुत जगह उद्धृत हुई हैं। सम्भव है कि उनके नैतिक विजन के बनने में मानस के प्रबल नैतिक आग्रह का भी हाथ हो। उन्हें असहयोग आन्दोलन की प्रेरणा परम बलवान रावण से निर्बल सीता के असहयोग के प्रकरण से प्राप्त हुई थी।⁹⁴

राजनीति को धर्म के करीब लाने में गाँधी जिस प्रकार मानस के 'रामराज' को उपयोगी पाते हैं उसी प्रकार बीसवीं शताब्दी की भारतीय राजनीति के एक और बड़े राजनेता ड० राम मनोहर लोहिया धर्म और राजनीति पर पुनर्विचार के वक्त तुलसी-रामायण का स्मरण करते हैं। वे लिखते हैं: "धर्म और राजनीति का रिश्ता बिगड़ गया है। धर्म दीर्घकालीन राजनीति है और राजनीति अल्पकालीन धर्म। धर्म श्रेयस की उपलब्धि का प्रयत्न करता है, राजनीति बुराई से लड़ती है। हम आज एक दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति में हैं जिसमें कि बुराई से विरोध की लड़ाई में धर्म का कोई वास्ता नहीं रह गया है और वह निर्जीव हो गया है जब कि राजनीति अत्यधिक कलही और बेकार हो गयी है।"⁹⁵ इस स्थिति से उबरने के लिए लोहिया ने चित्रकूट में रामायण मेला प्रस्तावित किया था जिसमें लोकप्रचलित मानस की नवाह्य पारायण की योजना रखी गयी; लोहिया के अनुसार, "एक अगुआ दोहा-चौपाई लय से पढ़ेगा और उसको हजार दस हजार या लाख, जितने भी लोग हों, उसी लय में दोहराने की कोशिश करेंगे। इन अगुओं में औरतें, शुद्र और अन्यधर्मी जरूर होंगे। द्विज तो होंगे की। हो सकता है कुछ कट्टर हिन्दू सोचें कि हिन्दू धर्म भ्रष्ट किया जा रहा है और कुछ कट्टर अन्य धर्मी भी सोचें कि उनको खाने और हिन्दू धर्म में खपाने की कोशिश हो रही है। वास्तविकता यह है कि उन्मुक्त मानव आनन्द और पूरे हिन्दूस्तान की एक राष्ट्रीयता इस तरह के नवाह्य पाठ से जगेंगे।"⁹⁶ गाँधी की तरह लोहिया की दृष्टि भी

जनोन्मुख थी इसलिए वे परम्परा को रूढ़ि से तथा विवेक को श्रद्धा से अलग कर सकते थे; उनका विचार था कि “तुलसी की रामायण में निश्चय ही सोना हीरा मोती बहुत हैं, लेकिन उसमें कूड़ा और उच्छिष्ट भी काफी हैं। इन दोनों को धर्म से इतना पवित्र बना दिया गया है कि भारतीय जन की विवेक दृष्टि लुप्त हो गयी है। इस मेले (रामायण) का उद्देश्य है कि भारतीय जनता वह विवेक-दृष्टि पुनः प्राप्त करे।”⁹⁷ लेकिन भारतीय राजनीति में कुछ ऐसे भी लोग थे जिन्होंने मानस को एक धार्मिक-ग्रंथ की तरह एक अनैतिहासिक सृष्टि में ढाल देना चाहा था और जिन्होंने न सिर्फ अपनी पार्टी का नाम रामराज पार्टी रखा था बल्कि “बरनास्रम निज-निज धरम निरत बेद पथ लोक।” 7.20 को शब्दशः लागू करना चाहा था।⁹⁸ वे अछूत को अछूत और ब्राह्मण को ब्राह्मण बनाये रखकर ही रामराज्य की कल्पना कर सकते थे। इस सन्दर्भ में स्वामी करपात्री (1907-82) की रामराज पार्टी का 1952 के संसदीय चुनाव का घोषणा-पत्र दृष्टव्य हैं।

मानस को बीसवीं शताब्दी में देशी पूंजीपतियों एवं छोटे-बड़े व्यापारियों से भी काफी संरक्षण मिला। इसका सम्भवतः एक कारण तो यह था कि यहाँ सामाजिक पूँजी के अभाव एवं फुकोयामा के शब्दों में ‘लो ट्रस्ट सोसाइटी’⁹⁹ की बाध्यताओं के कारण देश का पूँजी एवं व्यापारी वर्ग का प्रबंधन परिवार आधारित रहा है; स्पष्टतः वे परिवार नामक संस्था एवं परिवारिक मूल्यों को सर्वाधिक महत्व देते और मानस से उपयुक्त ऐसी कौन सी रचना हो सकती थी जो इन मूल्यों को इतनी शक्तिशाली ढंग से प्रस्तुत करती हो। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने रामायण के इस पक्ष को बहुत पहले ही रेखांकित किया था: “रामायण की प्रधान विशेषता यह है कि घर की बात को ही बड़ा करके दिखाया है। पिता-पुत्र में, भाई-भाई में, पति पत्नी में जो धर्म का बंधन है, जो प्रीति और भक्ति का संबंध है, रामायण ने उसे इतना महान कर दिया है कि वह अत्यंत

सहज रूप में महाकाव्य के उपयुक्त हो गया है। हमारे देश में गृहस्थ आश्रम का जो इतना ऊँचा स्थान था, इस काव्य में उसी को प्रमाणित किया गया है। गृहस्थाश्रम पूरे समाज को समेटकर रखता था और मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाता था। गृहस्थाश्रम भारत वर्षीय आर्य समाज की भित्ति है। रामायण उसी गृहस्थाश्रम का काव्य है।¹⁰⁰ समाजशास्त्री प्रो. योगेन्द्र सिंह का यह कहना सही है कि भारत में पूँजीवाद की शुरुआत पारिवारिक पूँजीवाद से हुई। यद्यपि औपनिवेशिक राजस्व नीति भारतीयों को पूँजी लगाने से रोकती थी; बावजूद इसके पारिवारिक पूँजीवाद पनपता रहा। उद्यमी संस्कृति में जो खतरा उठाने के सहभागी प्रयास अपेक्षित होता है संयुक्त परिवार की धारणा से उसे काफी सहायता मिली।¹⁰¹ मारवाड़ियों पर जो अध्ययन हुए हैं उससे यही बात सामने आई है कि वे इसलिए इतने सफल हुए क्योंकि उन्हें 'परदेश' जाने में कोई चिंता या दुविधा इसलिए नहीं होती थी क्योंकि उन्हें इस बात की तसल्ली थी कि उनकी अनुपस्थिति में भी उनकी पत्नी बच्चों की देखभाल के लिए 'देश' में उनका संयुक्त परिवार है।¹⁰²

यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में मारवाड़ी समुदाय जहाँ भी अपना कारोबार जमाने में सफल रहा, उपभोक्तावादी बनने के बजाय धार्मिक—सांस्कृतिक गतिविधियों में खुल कर योगदान दिया। यह अलग बात है कि उनकी अधिकांश गतिविधियाँ सनातनी थी। मानस को संरक्षण प्रदान करना भी उनकी निगाह में अन्य बातों के अतिरिक्त एक सनातनी कर्म था। इसलिए बनारस में स्वामी करपात्री के आन्दोलन को आर्थिक सहायता देना हो या ज्ञानवापी मंदिर में मानसोत्सव मनाना हो या गोरखपुर में गीता प्रेस स्थापित करना हो या कल्याण जैसी पत्रिका निकालनी हो या सत्यनारायण तुलसी मानस मंदिर का निर्माण करना हो या बिरला अकादमी आफ आर्ट एंड कल्चर द्वारा मानस का प्रवचन एवं 'मानस मुक्तावली' जैसा प्रकाशन करना हो या

राम मंदिर का निर्माण एवं मानस पर कथा एवं प्रवचन तथा रामलीला का आयोजन करना हो; सभी उनके लिए एक करणीय सनातनी कर्म बन गया था। इस प्रकार के काम में बिड़ला, सुरेका या गोयंदका जैसे बड़े व्यापारिक घराने ही शामिल नहीं थे बल्कि छोटे-छोटे व्यापारी भी अपनी प्रतिष्ठा ऐसी गतिविधियों से ही जोड़कर देखते थे। यह अकारण नहीं है कि बीसवीं शताब्दी में मानस के नवाह्य एवं मासपारायण तथा कथा-प्रवचनों की एक बाढ़-सी आ गयी दिखती है।

बीसवीं शताब्दी में इलेक्ट्रोनिक मीडिया को बड़े पैमाने पर भारत में लोकप्रिय बनाने में मानस ने एवं मानस को एक बार फिर पुनर्वसित करने में इलेक्ट्रोनिक मीडिया ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मानस चतुःशती के अवसर पर सर्वप्रथम मुरली मनोहर स्वरूप के संगीत निर्देशन में मुकेश के गाये रामचरितमानस का रिकार्ड सामने आया फिर इसका कैसेट भी बाजार में लाया गया। यह इस कैसेट की लोकप्रियता ही कही जायगी कि बाद में आकाशवाणी से हर सुबह इसे प्रसारित करने की परंपरा शुरू हुई जो आज तक जारी है। वैसे संगीत के तीनों ही रूपों - शास्त्रीय, लोक एवं लोकप्रिय में रामचरितमानस की अत्यन्त ही प्रभावशाली उपस्थिति देखी जा सकती है।

पंडित लालमणि मिश्र की यह उक्ति सही है कि, "मानस-गान का विस्तार जितना शास्त्रीय संगीत में हुआ है उससे कहीं अधिक विस्तार लोक-संगीत के रूप में हैं। यहाँ लोक संगीत से हमारा तात्पर्य यह है कि जिसमें मानस का गान लोक-गीतों के प्रकारों से मिलता-जुलता है तथा लोक-संगीत को वाद्यों के साथ होता है। मानस के गान का यह लोक-गीतों का-सा रूप समस्त उत्तर-प्रदेश, बिहार, मध्य-प्रदेश, दिल्ली, राजस्थान तथा पंजाब के कुछ इलाकों तक दूर तक फैला हुआ है। इस समस्त क्षेत्र में लगभग डेढ़ सौ से भी अधिक चौपाईयों की धुनों का प्रचार है।"¹⁰³

बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में भारतीय दूरदर्शन को एक बेहद लोकप्रिय माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने में जिन धारावाहिकों की प्रमुख भूमिका रही, उनमें रामानंद सागर के रामायण को अग्रगण्य कहा जा सकता है। इस धारावाहिक की पटकथा अधिकांशतः मानस पर आधारित थी; यही नहीं बल्कि इसके पार्श्व-संगीत में भी मानस की चौपाईयों का प्रयोग किया गया था। यह धारावाहिक 25 जनवरी 1987 से 31 जुलाई 1988 तक हर रविवार सुबह 9:30 बजे भारत के राष्ट्रीय चैनल दूरदर्शन पर प्रसारित किया जाता था। कहा जाता है कि इसे देखने के लिए करीब दस करोड़ की भीड़ जुटती थी जो दक्षिण एशिया के इतिहास में अभूतपूर्व मानी गयी।¹⁰⁴

इस धारावाहिक की लोकप्रियता इतनी संक्रामक थी कि रविवार के दिन का वह समय मानो स्थिर-सा हो जाता था। इस धारावाहिक की लोकप्रियता ने संरक्षण की राजनीति, 'अनेक रामायण' की अवधारणा तथा धर्मनिरपेक्ष राज्य के धार्मिक-सांस्कृतिक उत्तरदायित्व जैसे मुद्दों को एक बार फिर विवादास्पद बना दिया था। इतिहासकार रोमिला थापर का कहना था कि चूँकि इस देश में अनेक धर्म और अनेक रामायण हैं और भारतीय राज्य सम्पूर्ण भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व करता है तो सिर्फ तुलसी-रामायण को राज्य द्वारा पोषित एवं संरक्षित चैनल पर दिखलाना कहां तक न्यायोचित है?¹⁰⁵

क्या यह प्रश्न आज इक्कीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में जब जी.टी. वी. पर बी. आर. चोपड़ा का रामायण एवं कार्टून नेटवर्क पर यूगो साको का 'रामायण: द लीजेंड ऑफ प्रिंस राम' प्रसारित हो रहा है, उठाया जा सकता है? राज्याश्रित अर्थतंत्र के टूटने एवं उपग्रह चैनलों के आ जाने से तथाकथित बाजार भी अगर तुलसी-रामायण पर आधारित बी. आर. चोपड़ा के धारावाहिक को अपना रही है तो जाहिर है इसके सूत्र कहीं और हैं। भारतीय कला केन्द्र में पिछले चालीस वर्षों से लगातार आयोजित होने वाली रामलीला अब

डिजीटल रोशनी एवं आधुनिकतम फैशनेबुल जवाहरातों के साथ प्रस्तुत हो रही है।¹⁰⁶

टर्नर इंटरटेनमेंट नेटवर्क एशिया (टेना) के उपराष्ट्रपति एवं प्रमुख प्रबंधक श्री इयन डायमंड ने कार्टून नेटवर्क पर 'रामायण: द लीजेंड ऑफ प्रिंस राम' के प्रसारण को उग्र स्थानीकरण की रणनीति बताया। दिल्ली के प्रेस कान्फ्रेंस में उनका कहना था कि स्थानीय विषय हमेशा ही एक शक्तिशाली दर्शक वर्ग पैदा करता है लेकिन रामायण जैसे धारावाहिक के सहारे सांस्कृतिक समावेशीकरण की एक नयी नीति का सूत्रपात किया जा सकता है।¹⁰⁷ क्या यह परम्परा है या उसका व्यवसायिक दोहन?

एक रचना की यात्रा नदी की यात्रा है – हिमनदों से निकलकर समय की आँच में पिघलती हुई, निरन्तर आगे बढ़ती हुई फिर भी पीछे कुछ न कुछ छोड़ती हुई अक्रमिक एक जीवित जल की यात्रा। रामचरितमानस की यात्रा को सोलहवीं शताब्दी के अंत से इक्कीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक एक क्रम तो दिया जा सकता है लेकिन क्या उस बहते हुए प्रवहमान समय में जल की अक्रमिकता एवं जीवितता का अवबोध सम्भव है?

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

¹ रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रवीन्द्रनाथ के निबंध, भाग 2, साहित्य अकादेमी, द्वितीय संस्करण, 1977, पृ. 391

² हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पुनर्मुद्रित 1995, पृ. 133

³ A.K. Ramanujan, *Three Hundred Ramayanas: Five Examples and Three Thoughts on Translation*, in Paula Richman (ed), *Many Ramayans*, Oxford University Press, OIP, 1994, P. 46.

⁴ इस लेख में रामचरितमानस के लोकभारती संस्करण का उपयोग किया गया है। लंकाकांड से उत्तराकांड को 1 से 7 की संख्या द्वारा संकेतित किया गया है एवं उसके बाद दोहा व चौपाई की संख्या दी गई है। योगेन्द्र प्रताप सिंह (सं), श्रीरामचरितमानस, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1999, पृ. 72

⁵ मुकुन्द लाठ, संगीत एवं चिन्तन, प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1994, पृ. 24-25

⁶ इस चौपाई से यह नहीं पता चलता कि यह रचना के प्रारम्भ करने की तिथि है या उसके प्रकाशन की। कृति में रचना की समाप्ति की कोई तिथि नहीं दी गयी है लेकिन 'मूल गोसाईं चरित' के अनुसार संवत् 1633, मार्ग शीर्ष शुक्ल 15, मंगलवार को रचना पूर्ण हुई। माता प्रसाद गुप्त इसे अप्राणिक मानते हैं; उनके अनुसार यह तिथि न विगत संवत् वर्ष-प्रणाली पर ठीक उत्तरती है और न वर्तमान संवत् वर्ष प्रणाली पर।" (माता प्रसाद गुप्त, तुलसीदास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद छठा संस्करण 2002, पृ. 59) इस सन्दर्भ में रामकिंकर उपाध्याय का मत विचारणीय है, वे लिखते हैं, "मुझे यह प्रतीत होता है कि इस तिथि का (1574 ई.) सम्बन्ध न तो रचना के प्रारम्भिक दिन से है और न समापन से। यह आज की भाषा में प्रकाशन या विमोचन की तिथि है। इस तिथि के पहले ही गोस्वामी जी मानस-रचना का कार्य पूर्ण कर चुके थे। श्रीरामनवमी की मंगलमयी वेला में जब चारों ओर से संत समाज का आगमन हुआ, तब उसके समक्ष उन्होंने कथा-वाचन के रूप में इसे प्रस्तुत किया। उपर्युक्त पंक्तियों के साथ-साथ उसके आस पास, की पंक्तियों से भी इसी विश्वास की पुष्टि होती है : "करउँ कथा हरिपद धरि सीसा" "अवधपुरी यह चरित प्रकासा" विमल कथा करि कीन्ह अरम्भा। सुनत नसाहिं काम मद दम्भा।।" "कहउँ कथा सोई सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई।।"

"इन पंक्तियों में प्रयुक्त शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कथा रामनवमी को श्रोताओं को सुनाई जा रही है।" (रामकिंकर उपाध्याय, मानस-मुक्तावली भाग एक, बिरला अकादमी ऑफ़ आर्ट एंड कल्चर, कलकत्ता, तृतीय संस्करण, 1988, पृ. 132)

⁷ बाशम तो अकबर को अशोक से भी महान मानते हैं। देखें, A.L. Basham Forward to Fatehpur-Sikri, S.A.A. Rizvi and V.J.A. Flynn, Cited in S.A.A.Rizvi, *The wonder that was India*, Rupa & co. Seventh impression, 1998, P.308

⁸ V.A.Smith, *Akbar the Great*, S. Chand & co. Delhi, Second Indian Reprint, 1962, P.308

⁹ Rabindra Nath Tagore, *Forward to Medieval Mysticism of India*, Kshitimohan Sen, Oriental Books Reprint Corporation New Delhi, First Indian Edition, 1974

¹⁰ V.A.Smith, *Ibid*, P. 303

¹¹ देखें F.S. Growse, *The Ramayana of Tulsidas*, Motilal Banarasidas, New Delhi, Reprint 1998, First Published 1891; George Grierson, *Tulsidas, the Great Poet of Medieval India*, Nagendra (ed) In *Tulasidas His Mind and Art*, National Publishing House, New Delhi, 1997; J.M.Macfie, *The Ramayan of Tulsidas or The Bible of Northern India*, T. and T.Clark, Edinburgh, 1930

¹² सावित्री श्रीवास्तव, नाभादास कृत भक्तमाल तथा प्रियादास कृत टीका का पाठालोचन, अभिनव भारती, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1981, पृ. 49 पर उद्धृत

¹³ रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'भक्तमाल' की रचना 1585 ई. के बाद हुई (हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, बीसवाँ पुनर्मुद्रण 1980, पृ. 101); माता प्रसाद गुप्त ने 1658 ई. 'भक्तमाल' का रचना-काल माना है। (तुलसीदास, वही, पृ. 77) अधिकांश विद्वान सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्ष को ही स्वीकार करते हैं।

¹⁴ "कासी जाय वृन्दावन आय मिले नाभाजू सों/ सुन्यौ हो कवित्त निज रीझि मति भोजिये।। मदन गोपालजू कों दरसन करि कहि/ सही सही राम इष्ट मेरे दृष्टि भाव पागी हैं। वैसाई सरूप कियो लै दियो दिरवाय रूप/ मन अनरूप छवि देखि नीगी लागी हैं।।" ;Cited in F.S. Growse, *Ibid*, P. xiv)

¹⁵ रघुराज सिंह ने मानसिंह के साथ गुरु अग्रदास जी के तीर्थाटन का उल्लेख किया है : "मानसिंह जैपुर को राजा। सो अपनी लै सकल समाजा।। अग्रदास गुरु आज्ञाकारी। रहै समीप चरण रजधारी।। एक समय तीरथ के हेतु। अग्र चल्थौ बहु संत समेतु।। (भगवती प्रसाद सिंह, रामभक्ति में रसिक संप्रदाय, अवध साहित्य मंदिर, बलरामपुर, प्रथम संस्करण 1957, पृ. 111 पर उद्धृत)

¹⁶ इस प्रकार के तीन सिक्के अब तक प्राप्त हुए हैं जिसमें सोने की दो अर्ध मुहरें ब्रिटिश म्युजियम तथा केबिनेट डे फ्रांस में है एवं चाँदी की अठनी भारत कला-भवन काशी में सुरक्षित रखा गया है। देखें रायकृष्ण दास, राम-सीय मुद्रा एवं तत्कालीन समाज पर तुलसीदास का प्रभाव, प्रज्ञा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, मानस चतुःशती विशेषांक, 1973-74, पृ. 20-22

¹⁷ S.A.A. Razvi, *Muslim Revivalist Movement in Northern India in the Sixteenth and Seventeenth Centuries*, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., Delhi, 1st Edition 1965, P. 303

¹⁸ Satish Chandra, 'Standard of Living' in Tapan Roychoudhari and Irfan Habib (eds) *The Cambridge Economic History of India*, The Cambridge University Press, Cambridge, First Published 1982, P.458

¹⁹ "...The Great Mugal being in Power and Wealth in Asia what the King of France in Europe" J.B.Tavernier, *Travels in India*, Tr. By V.Ball, Oriental Books Reprint Corporation, N. Delhi, First Edition 1977, P. 308

²⁰ F.Bernier, *Travels in the Mugal Empire*, Tr, Irving Brock, Revised and annotated, V.A.Smith, London 1961

²¹ Tarachand, *Society and State In the Mughal Period*, The Publication Division, Faridabad, July 1961, pp. 9-10

²² Kalikankar Dutta, *Survey of India's Social Life and Economic Condition in The Eighteenth Century*, Munshiram Manoharlal Publisher's Pvt. Ltd, Delhi, Second Revised Edition 1978, pp. 19-33

²³ गोविन्द्र चन्द्र पांडेय, भक्ति धारा और तुलसीदास, डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र स्मृति तुलसी-ब्याख्यानमाला-91, समाधान- मध्यप्रदेश तुलसी अकादेमी भोपाल, पृ. 9

²⁴ रामानंद के जीवन-काल के बारे में भ्रांतियाँ हैं। फर्कूहर के अनुसार उनका काल 1400-1470 ई. ठहरता है। (Cited in, Sushmita Pandey, *Medieval Bhakti Movement*, Kusumanjali Prakshan, Meerut, First Edition, 1989, p. 120) क्षितिमोहन सेन ने उनका जीवन-काल 1370-1440 ई. माना है (Kshitimohan Sen, Ibid, p. 70)

²⁵ Kshitimohan Sen, Ibid, p. 72

²⁶ William R.Pinch, *Peasants and Monks in British India*, Oxford University Press, New Delhi, First Indian Edition 1996, pp. 48-80

²⁷ हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, वही, पृ. 70

²⁸ Peter Van Der Veer, *Gods on Earth*, Oxford University Press, Delhi, 1989, p. 174

²⁹ कारपेंटर (The Theology of Tulsidas, Christian Literary Society, Madras 1918) मैकडोनल (The Way of Salvation in the Ramayan of Tulsidas, University of Chicago, Illinois, 1926), ग्रियर्सन (Notes on Tulsidas, Nawal Kishore Press, Lucknow, 1920) एवं दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता के अनुसार तुलसी रामानंद वैरागी थे जबकि रामदत्त भारद्वाज (Philosophy of Tulsidas, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt.Ltd, New Delhi, First edition 1979) रामचन्द्र शुक्ल (हिन्दी साहित्य का इतिहास, वही) ने इन्हें स्मार्त वैष्णव माना है।

³⁰ रामचन्द्र शुक्ल, वही, पृ. 97-98

³¹ हजारी प्रसाद द्विवेदी, वही, पृ. 131-32

- ³² नेमिचन्द्र जैन (सं), मुक्तिबोध-रचनावली, भाग पाँच, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पेपरबैक्स संस्करण 1985 पृ. 291-92
- ³³ A.L. Basham, *The Wonder that was India*, Rupa & Co, Delhi, Third Revised Edition, Thirty Second Impression 1998, p. 480
- ³⁴ सैयद नजमुल रजा रिजवी, अठारहवीं सदी के जमींदार, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1988, पृ. 212
- ³⁵ Romila Thapar, *Cultural Transaction and Early India : Tradition and Patronage*, Social Scientist (ed) Prabhat Patnaik, Vol. 15, Number 2, Feb 1987, PP. 28-27, Also See, Joan L. Erdman (ed) *Arts Patronage in India*, Manohar, Delhi, 1992, Barbara Stoler Miller (ed) *Power of Art: Patronage In Indian Culture*, Oxford University, Press, Delhi, 1992
- ³⁶ K.M. Panikkar, *Hindu Society at Cross Roads*, Bombay, 1955, p.8
- ³⁷ Jagdish Narayan Sarkar, *Significance of Shivaji Coronation* in Narayan H.Kulkarnee (ed) *Chatrapati Shivaji: Architect of Freedom*, Published by Chatrapati Shivaji Smarak Samati, Delhi, 1975
- ³⁸ M.N.Srinivas, *Social Change in Modern India*, Orient Longman, Indian Edition 1972, p. 10
- ³⁹ भगवती प्रसाद सिंह, वही, पृ. 328
- ⁴⁰ Richard Burghardt, *The Founding of the Ramanandi Sect*, Ethnohistory 25, Spring 1978, pp. 121-39
- ⁴¹ G.S. Ghurye, *Indian Sadhus*, Popular Prakshan, Bombay 1953, pp. 145-146
- ⁴² Banshidhar Tripathy, *Sadhus of India*, Popular Prakshan, Bombay, 1978, p. 53
- ⁴³ अंजनीनदन शरण, मानस के प्राचीन टीकाकार, कल्याण मानस अंक, हनुमान प्रसाद पोद्दार (सं), वर्ष 13, संख्या 1, श्रावण 1995 (त्र अगस्त 1938), पृ. 908
- ⁴⁴ लिंडा हेस, रामलीला दर्शक अनुभूति, अनु. भानुशंकर मेहता, चौमासा (सं) कपिल तिवारी, वर्ष 4, अंक 12-13, फरवरी 87, पृ. 20
- ⁴⁵ गोविन्द नारायण पाण्डेय, श्रीरामलीला, प्रकाशक : ज्ञानवती पाण्डेय, रैया, सोरौंव, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1993, पृ. 7
- ⁴⁶ भानु शंकर मेहता, सो काशी सेइअ कस न, बुक फेथ इंडिया, दिल्ली, 1999, पृ. 169-170
- ⁴⁷ Richard Schechner, *Performative Circumstances From the Avant-Garde to Ramlila*, Seagull Books, Calutta, 1983, pp.238-288

⁴⁸ Anuradha kapur, *Actors, Pilgrims, Kings and Gods : The Ramlila at Ramnagar* in Sudhir Chandra (ed), *Social Transformation and Creative Imagination Allied Publishers Pvt. Ltd, New Delhi, First Published, 1984, p. 341*

⁴⁹ Edward S. Haynes, *Patronage As the Atrs and the Rise of the Alwar State*, In Karine Schomer et.al. (ed) *The Idea of Rajashtan, Manohar, First Published 1994, pp. 265-289*

⁵⁰ हिन्दुस्तान संवाद, वाराणसी / लखनऊ, 1 अक्टूबर 2001

⁵¹ इन्दुजा अवस्थी, रामलीला : परंपरा और शैलियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2002, पृ. 56

⁵² भानुशंकर मेहता, रामलीलाओं की मंच-योजना, चौमासा 50-51, पृ. 241

⁵³ राम अधीर, अयोध्या की रामलीला, चौमासा 12-13, पृ. 38

⁵⁴ Norvin Hein, *The Miracle Plays of Mathura*, Oxford University Press, First Published 1972, P. 108

⁵⁵ वाष्पजिह्वा स्वामी, राम-सुधा, सत्यनारायण शास्त्री खण्डूड़ी (सं) सर्वभारती काशीराज न्यास दुर्गा, रामनगर, वाराणसी, 1998

⁵⁶ "मानस व्यासों की परंपरा के विषय में एक प्रश्नोत्तरी बाबा श्री लक्ष्मणदास जी रामायणी और चक्रपाणि जी शास्त्री की इस प्रकार है -प्रश्न न. 16- सर्वप्रथम मानस व्यास कौन हुए ? उत्तर 1 - संडीले के स्वामी नन्दलाल जी और 2. मिथिला जी के स्वामी रूपारूण जी। इन्हीं युगल स्वामियों को श्री तुलसी चौरा (श्री अयोध्या जी) पर गोस्वामी जी से रामचरितमानस का पाठ सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इनमें से एक ने यमुना तट पर श्री वृन्दावन में श्रीरसखान जी को तीन वर्ष में मानस की कथा सुनायी और दूसरे ने संभल सिंह भूमिहार को बागमती के तट पर सुनायी। 3. मंदाकिनी तट पर चित्रकूट में दूसरे तुलसीदास जी ओर 4. उनके शिष्य श्री किशोरी दास जी ने संतमण्डली के मध्य में बारह वर्ष में सम्पूर्ण कथा मानस की कहकर समाप्त की। 5. काशी जी में गंगातट पर बाबा रघुनाथ दास जी ने सात वर्ष में और 6. गोदावरी तट पर पंचवटी क्षेत्र में मोरेश्वर पंत कवि जी ने नौ वर्ष में मानस की कथा सुनाई। 7. श्री अयोध्या जी में श्री सरयूजी के तट पर मूल गोसाईं चरित (सं. 1687) के रचयिता बाबा वेणीमाधव दास जी ने क्रमशः दस वर्ष में यह कथा कहकर मानस प्रेमियों को सुनायी। 9. सोरों में गंगा तट पर महात्मा तुलसीदास गुसाईं और उनके पुत्र जानकी गुसाईं ने मिलकर यज्ञानुष्ठानपूर्वक इसकी कथा पाँच वर्ष में सुनायी। 10. ये सब निःस्पृही कथावाचक थे, जो कथा में चढ़ी हुई पूजा में और भी द्रव्य अपने पास से मिलाकर उससे तुरंत ही साधु संतों का भड़ारा कर दिया करते थे।" अंजनीनन्दन शरण, मानस के प्राचीन टीकाकार, वही, पृ. 909 पर उद्धृत।

⁵⁷ त्रिभुवननाथ चौबे, रामचरितमानस का टीका-साहित्य, सम्भावना प्रकाशन, सुलतानपुर, प्रथम संस्करण 1975, पृ.18

⁵⁸ वही, पृ. 20 एवं 22

⁵⁹ अंजनीनन्दनशरण, उपरोक्त, पृ. 914-915

-
- ⁶⁰ त्रिभुवनाथ चौबे, वही, पृ. 23
- ⁶¹ बाबू राम शुक्ल, तुलसी सूक्त सुधाकर भाष्य, श्रीराम ग्रंथागार, मणिपर्वत, अयोध्या पृ.
- ⁶² त्रिभुवननाथ चौबे, वही, पृ. 311
- ⁶³ अंजनीनन्दनशरण, मानस-पीयूष, खंड दो, गीता प्रेस गोरखपुर, सातवां संस्करण, 1998, पृ. 6
- ⁶⁴ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (सं.), राचरितमानस, काशी राज संस्करण, सर्वभारतीय काशिराज न्यास, रामनगर रामनगर दुर्ग, 1962, पृ. 8
- ⁶⁵ F.S. Growse, *The Ramayana of Tulsidas*, Ibid, p.iv
- ⁶⁶ जार्ज ग्रियर्सन, भारत का भाषा-सर्वेक्षण, खंड 1, भाग 1, अनु उदयनारायण तिवारी, प्रकाशन शाखा, सूचना-विभाग, उत्तर-प्रदेश, प्रथम संस्करण 1959, पृ. 296
- ⁶⁷ Philip Lutgendorf, *The Life of a Text, Performing the Ramcharitmanas of Tulsidas*, Oxford University Press, First Indian Edition 1994, p. 59
- ⁶⁸ B.S. Kesavan, *History of Printing and Publishing in India* vol. III, National Book Trust, India, First Edition 1977, p. 200
- ⁶⁹ वही, पृ. 202
- ⁷⁰ "आज से कई वर्ष पूर्व हिन्दी भाषा के प्रसिद्ध प्रचारक तथा रामचरितमानस के परम प्रेमी म० कु० बाबू रामदीन सिंह जी ने स्वसम्पादित रामायण में लिखा था कि उस समय तक सुजनों के द्वारा इस ग्रंथ का 123 संस्करण हुआ था। इस बीच में और भी अनेक संस्करण अवश्य हुए होंगे क्योंकि कोई ऐसा विरला ही प्रेस है जिसने गोसाईं जी कृत रामायण को न प्रकाशित किया हो।" – शिवनंदन सहय, गोस्वामी तुलसीदास, (प्रथम संस्करण 1917), बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, द्वितीय संस्करण 2000, पृ. 239
- ⁷¹ C.A. Bayly, *Empire and Information, Intelligence gathering and Social Communication in India, 1780-1870*, Cambridge University Press, First South Asian Edition 1999, p. 355
- ⁷² Ibid, p. 357,
- ⁷³ Jurgen Lutt, *From Krishhnalila to Ramrajya: A Court Case and its Consequence for the Reformation of Hinduism*, In Vasudha Dalmia, H.V.Steitencron (eds.) *Representing Hinduism*, Sage Publications, California, London, New Delhi, 1995, p.142.
- ⁷⁴ Ibid., p.145.
- ⁷⁵ Ibid., pp.142-153.

⁷⁶ जार्ज ग्रियर्सन, वही, पृ.295–296।

⁷⁷ B.S.Kervan, Ibid, p.190.

⁷⁸ Ibid., p.204.

⁷⁹ Monica Horstman, *Towards a Universal Dharma: Kalyan and the Tracts of the Gita Press in Vasudha & H.V. Steitencron* (ed), Ibid., p.299.

⁸⁰ गीता-प्रेस से अब तक मानस के निम्नांकित संस्करण निकल चुके हैं:
 ;पद्म श्रीरामचरितमानस-वृहदाकार, हिन्दी टीका सहित, बहुत बड़े अक्षरों में (कोड न.80), ;पद्म श्रीरामचरितमानस – ग्रन्थाकार, हिन्दी टीका सहित, बड़े अक्षरों में (कोड न.81), ;पद्म श्रीरामचरितमानस – मञ्जला हिन्दी टीका सहित, सामान्य अक्षरों में (कोड न.82), ;पद्म श्रीरामचरितमानस – ग्रन्थाकार, केवल मूल, मोटे अक्षरों में (कोड न.83), ;अद्म श्रीरामचरितमानस – मञ्जला, केवल मूल, सामान्य संस्करण (कोड न.84), ;अपद्म श्रीरामचरितमानस – गुटका, केवल मूल (कोड न.85), ;अपद्म श्रीरामचरितमानस – ग्रन्थाकार, हिन्दी टीका सहित, सामान्य अक्षरों में (कोड न.697), ;अपपद्म श्रीरामचरितमानस – ग्रन्थाकार, केवल हिन्दी अनुवाद, मोटे अक्षरों में (कोड न.790), ;पद्म श्रीरामचरितमानस – ग्रन्थाकार, हिन्दी टीका सहित, राज संस्करण (कोड न.1095), ;गद्म श्रीरामचरितमानस – मञ्जला, केवल मूल, राज संस्करण (कोड न.1282), ;गपद्म श्रीरामचरितमानस – ग्रन्थाकार, रोमन अंग्रेजी अनुवाद (कोड न.1318), ;गपपद्म श्रीरामचरितमानस – मञ्जला, अंग्रेजी अनुवाद (कोड न.786), ;गपपद्म श्रीरामचरितमानस – ग्रन्थाकार, मराठी टीका सहित, (कोड न.1314), ;गपअद्म श्रीरामचरितमानस – ग्रन्थाकार, मूल एवं टीका, गुजराती बड़े अक्षरों में (कोड न.799), ;गअद्म श्रीरामचरितमानस – मञ्जला, मूल एवं टीका, गुजराती (कोड न.785), ;गअपद्म श्रीरामचरितमानस – मञ्जला, केवल मूल, गुजराती, सामान्य अक्षरों में (कोड न.878), ;गअपपद्म श्रीरामचरितमानस – केवल मूल, गुटका, गुजराती (कोड न.879), ;गअपपद्म श्रीरामचरितमानस – ग्रन्थाकार, मूल एवं टीका, बंगला बड़े अक्षरों में (कोड न.954), ;गपगद्म श्रीरामचरितमानस – केवल मूल, ओड़िया, बड़े अक्षरों में (कोड न.954), इसके अतिरिक्त बालकांड सटीक, अयोध्याकांड सटीक, अरण्य, किष्किन्धा एवं सुन्दरकांड सटीक (हिन्दी, तेलुगु), सुन्दरकांड सटीक, सुन्दरकांड मूल गुटका, सुन्दरकांड मूल मोटा टाईप (हिन्दी, गुजराती), सुन्दरकांड मूल लघु आकार (हिन्दी, गुजराती), लंका कांड सटीक, उत्तरकांड सटीक भी गीता-प्रेस ने प्रकाशित किया है। मानस से संबंधित अन्य सामग्री में 'मानस पीयूष' (सात खंड) 'मानस-गूढार्थ-चंद्रिका' (सात खंड) 'मानस रहस्य' एवं 'मानस शंका-समाधान' भी गीता प्रेस ने छापा है।

⁸¹ गीता-प्रेस के कर्ता श्री प्रहलाद ब्रह्मचारी से लेखक की बातचीत के आधार पर।

⁸² William Ralph Pinch, *Being Vaishnava, Becoming Kshatrya*, Culture, Belief and Identity in North India 1800-1940, Ph.D Dissertation, Department of History, University of Virginia, August 1990, pp.5-6.

⁸³ Phillip Lutgendorf, *Interpreting Ramraj* in David Lorenzen (ed.) *Bhakti Religion n North India*, Manohar India, Frist Published in India 1995, p.269.

⁸⁴ Ramdas Lamb, *Personalizing the Ramayana* in Paula Richman (ed.) *Many Ramayanas*, Oxford University Press, First Indian Edition 1992, pp.235-255.

-
- ⁸⁵ C.A.Bayly, *The Local Roots of Indian Politics*, Clarendon Press Oxford, 1975, p.6.
- ⁸⁶ Gyanendra Pandey, *Peasant Revolt and Indian Nationalism* in Ranjit Guha & Gayatri Chakravarty Spivak (ed.) *Selected Subaltern Studies*, Oxford University Press, Oxford, New York, 1988, p.259.
- ⁸⁷ Jawaharlal Nehru, *An Autobiography*, Jawaharlal Nehru Memorial Fund, OUP, Delhi, Fifth Impression 1987, p.53.
- ⁸⁸ Baba Ramchandra Papers, Part-1, *Speeches and Writings & File No.2*, Nehru Memorial Museum & Library, New Delhi.
- ⁸⁹ Kapil Kumar, *The Ramcharitmanas as a Radical Text Baba Ramchandra in Oudh 1920-50* in Sudhir Chandra (ed.), *Ibid.*, p.329.
- ⁹⁰ *Ibid.*, p.317.
- ⁹¹ M.K.Gandhi, *The Collected Works of Mahatma Gandhi*, Vol.-28, Publication Division, New Delhi, 1925, p.295.
- ⁹² M.K.Gandhi, *The Selected Works of Mahatma Gandhi*, Vol.v, Navajivan Trust Ahmedabad, Third Reprint Popular Edition 1955, p.50.
- ⁹³ *Ibid.*, vol.1, p.47.
- ⁹⁴ Cited in Madan Gopal, *Tulsidas: A Literary Biography*, the Bookabode, New Delhi, 1977, p.vii.
- ⁹⁵ राम मनोहर लोहिया, मर्यादित, उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व और रामायण मेला, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, (प्रथम मुद्रण 1962) तृतीय प्रति मुद्रण, 1973, पृ.28।
- ⁹⁶ वही, पृ.40।
- ⁹⁷ वही, पृ.28-29।
- ⁹⁸ स्वामी करपात्री, रामायण-मीमांसा, राधाकृष्ण धनुका प्रकाशन संस्थान, वृन्दावन, तृतीय संस्करण, 2001।
- ⁹⁹ Francis Fukoyama, *Trust: The Social Virtus and The Creation of Prosperity*, Penguin Books, New York, England, 1996.
- ¹⁰⁰ रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रवीन्द्रनाथ के निबंध, वही, पृ.388।
- ¹⁰¹ प्रो. योगेन्द्र सिंह से इन पंक्तियों के लेखक के ध्वनांकित बातचीत के आधार पर।
- ¹⁰² Thomas A. Timberg, *The Marwaris*, Vikas Publishing House, New Delhi, 1978.

¹⁰³ लालमणि मिश्र, संगीत और समाज, मधुबनी प्रकाशन, भोपाल, प्रथम संस्करण, अगस्त 2000, पृ.72।

¹⁰⁴ Philip Lutgendorf, *Ramayana: The Video*, The Dama Review 34, No.2, Summer, 1990, p.128.

¹⁰⁵ Romila Thapar, *The Ramayana Syndrome*, Seminar 353, Jan'89, p.74.

¹⁰⁶ Mandira Nayar, *Ram in New Avtar*, The Hindu, Delhi, Fri Oct. 11, 2002.

¹⁰⁷ K.Kannan, *Telling the Story of Ramayana Through Sketches*, The Hindu, Delhi, Thursday, Sept 26, 2002, p.2.